धन की उत्पत्ति

[भारतवर्षीय हिन्दी अर्थशास्त्र परिषद द्वारा सम्पादित और स्वीकृत]

—:*:—

लेखक

दयाशङ्कर दुबे, एम० ए०, एल-एल० बी०

अर्थशास्त्र-अध्यापक, प्रयाग-विश्वविद्यालय

और

भगवानदास केला

रचयिता, भारतीय शासन, नागरिक शास्त्र, तथा भारतीय राजस्व, आदि

प्रकाशक

रामनारायण लाल

पब्लिशर और बुकसेलर

इलाहाबाद

प्रथम बार]   सन् १९३६ ई०   [मूल्य १।)

भूमिका

हमारा देश बहुत गरीब है। करोड़ों आदमियों को यही रूखा-सूखा आधा पेट भोजन पाकर ही अपना जीवन व्यतीत करना पड़ता है। हमारी ग़रीबी का एक स्थूल प्रमाण यह है कि यहाँ वर्ष भर में पैदा होने वाले धन को यदि सब देशवासियों में बराबर बराबर बाँट दिया जाय तो प्रति मनुष्य दस पैसे प्रति दिन से भी कम पड़ता है। इस ग़रीबी को दूर करने के लिये देश में धन की उत्पत्ति बढ़ाना अत्यन्त आवश्यक है। परन्तु यह कार्य सरल नहीं है, इसके लिए प्रत्येक व्यक्ति, समाज और सरकार के सहयोग की आवश्यकता है। इसलिये देशवासियों में शिक्षा प्रचार भी खूब होना चाहिये, और उनको धन की उत्पत्ति बढ़ाने के तरीकों का भी अच्छा ज्ञान होना चाहिये। धन कमाने का प्रयत्न तो बहुत से आदमी करते हैं, परन्तु थोड़े प्रयत्न से अधिक धन प्राप्त करने में वे ही सफल हो सकते हैं, जो धन की उत्पत्ति के तरीकों का ज्ञान प्राप्त कर अपनी शक्तियों का उचित उपयोग करते हैं। वर्तमान काल में, अन्यान्य देशों में, विशेष कर भारतवर्ष में, धन की उत्पत्ति की कमी का प्रधान कारण इस विषय सम्बन्धी उचित ज्ञान और साधनों का अभाव है। हिन्दी में ऐसे साहित्य की बहुत कमी है। इस कमी को कुछ अंश में दूर करने के उद्देश्य से यह पुस्तक लिखी गयी है।

दो वर्ष पूर्व अर्थशास्त्र के एक विभाग 'उपभोग' पर मैंने पुस्तक लिखी थी। वह दारागंज के साहित्य मंदिर द्वारा प्रकाशित हुई। इस पुस्तक का हिन्दी जनता ने अच्छा आदर

किया, इससे उत्साहित होकर मैंने अर्थशास्त्र के इस प्रधान विभाग 'धन की उत्पत्ति' पर पुस्तक लिखने का विचार किया। यदि इस कार्य में मुझे मेरे मित्र श्री० भगवानदास जी केला का सहयोग प्राप्त न होता तो यह विचार कई वर्षों तक कार्यरूप में परिणत न होता। श्रीमान् केला जी को वृन्दावन में इस विषय को पढ़ाने का कई वर्षों का अनुभव है। आपने भारतीय अर्थशास्त्र पर भी एक उत्तम ग्रंथ लिखा है। विशेषतया राजनीति और अर्थशास्त्र विषय के साहित्य निर्माण का कार्य ही श्रीमान् केला जी के जीवन का मुख्य ध्येय है, और इसके लिये उन्होंने पर्याप्त कठिनाइयों और बाधाओं का सामना करते हुए भारतीय ग्रंथमाला का कार्य चलाया है, जिसमें अब तक बीस उत्तमोत्तम पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं, और कई पुस्तकें अभी छपनी शेष हैं। इस पुस्तक का प्रायः सब भाग श्रीमान् केला जी ने, मेरे निरीक्षण में, लिखा है। इसलिये इसके दोषों के लिये मैं ही पूर्ण रूप से जिम्मेदार हूँ।

यद्यपि प्रत्येक विचारशील व्यक्ति, अपने लिये, तथा देश के लिये धन की उत्पत्ति का महत्व समझता है, तथापि बहुत से आदमी ऐसे होते हैं जो अपने व्यवहार से इस ज्ञान का परिचय नहीं देते। वे धनोत्पत्ति में यथेष्ट भाग नहीं लेते, वरन् कुछ तो उत्पन्न धन का विनाश ही करते रहते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को इस विषय में बहुत सतर्क होना चाहिये; उसकी विविध क्रियाओं से उसका, और साथ ही देश का धन बढ़ते रहना चाहिये। इस विषय की ओर ध्यान दिलाने के बाद, इस पुस्तक में बताया गया है कि धनोत्पत्ति वास्तव में किसे कहते हैं, उसके साधन क्या हैं, और प्रत्येक साधन की उपयोगिता किस प्रकार बढ़ाई जा सकती है। उत्पत्ति-वृद्धि के नियम भी, उदाहरण सहित समझाये गये हैं। साथ ही यह भी बताया गया है कि

धनोत्पत्ति सम्बन्धी आदर्श क्या होना चाहिये; स्वार्थ के साथ परमार्थ का, अर्थ के साथ धर्म का, पाश्चात्य विचारों के साथ पूर्वीय दृष्टि-कोण का, मेल किस तरह हो सकता है, जिससे केवल व्यक्तियों का ही धन न बढ़ कर देश और समाज का धन तथा सुख-समृद्धि बढ़े। आशा है, इस पुस्तक के अध्ययन से भारतीय बन्धुओं को स्वदेश की दशा सुधारने में कुछ सहायता अवश्य मिलेगी।

हमारा विचार है कि हम अर्थशास्त्र के सभी भागों पर इस प्रकार की पुस्तकें लिखें, जिससे हिन्दी साहित्य के इस अंग की यथा-सम्भव पूर्ति हो जाय। यदि हिन्दी संसार ने हमारे इस प्रयत्न को पसन्द किया और हमारा उत्साह बढ़ाया तो हमें उनकी अधिकाधिक सेवा करने का अवसर मिलेगा। पाठकों के सहयोग से, हम अपनी शक्ति और सुविधानुसार माता सरस्वति की आराधना में अपना समय लगा सकें, यही हमारी मनोकामना है। शुभम्।

दारागंज, प्रयाग
विजयादशमी, सं० १९९३
२५ । १० । ३६

दयाशंकर दुबे

सहायक पुस्तकें

Principles of Economics—A. Marshall

Outlines of Political Economy—S. J. Chapman

Elements of Economics—S. E. Thomas

Soviet Communism; A New Civilisation—Sidney and B. Webb

Groundwork of Economics—J. K. Mehta

Outlines of Economics—M. Sen

Economics of Welfare—A. C. Pigou.

अर्थ शास्त्र शब्दावली—दया शंकर दुबे, भगवानदास केला और गदाधरप्रसाद अम्बष्ट

भारतीय अर्थ शास्त्र (दो भाग)—भगवानदास केला

अर्थ विज्ञान—मुक्तिनारायण शुक्ल

उत्पत्ति—बालकृष्ण

अर्थ शास्त्र (प्रथम भाग)—राजेन्द्र कृष्ण कुमार

भारतीय अर्थशास्त्र—अमरनाथ वाली, और मोहनलाल

कौटिल्य के आर्थिक विचार—जगनलाल गुप्त, और भगवानदास केला
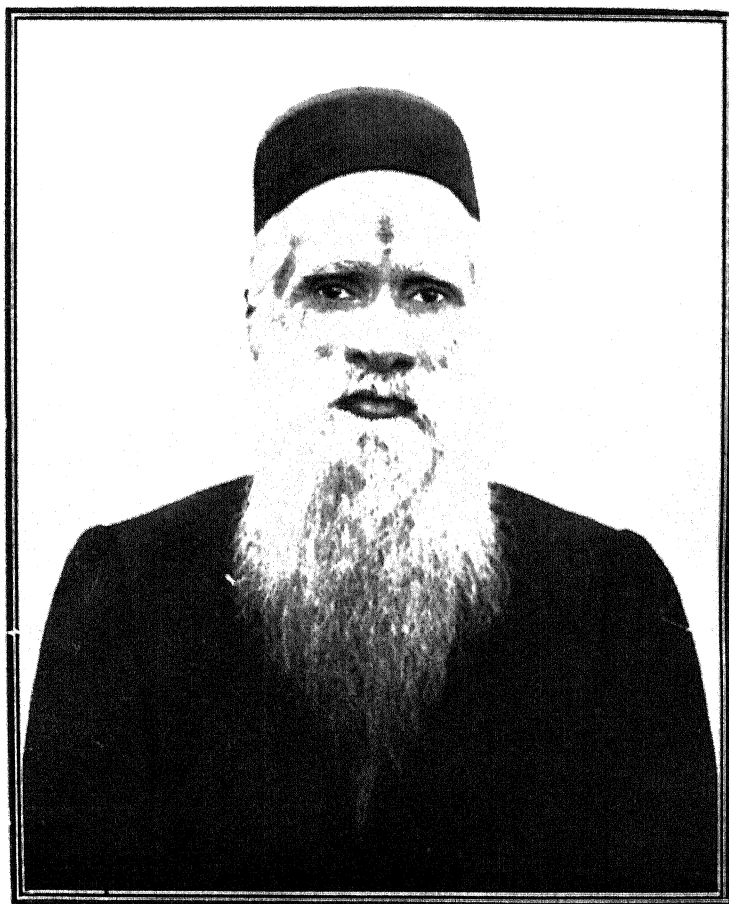
स्वर्गीय पंडित वत्सराम जी दुबे

परम पूज्य

स्वर्गीय पंडित बलराम जी दुबे

को

पवित्र स्मृति में

सादर समर्पित

दयाशंकर दुबे
भगवानदास केला

विषय सूची

छठवाँ अध्याय : श्रम के भेद और लक्षण

सातवाँ अध्याय : जन संख्या

आठवाँ अध्याय ; श्रम की कुशलता

नवाँ अध्याय ; श्रम विभाग

धन की उत्पत्ति

पहला अध्याय

उत्पत्ति का महत्व

—:*:—

प्राक्कथन—संसार में प्रत्येक व्यक्ति सुख की खोज में रहता है। वह विविध प्रकार से ऐसा प्रयत्न करता है कि उसको सुख मिले, तथा दुःख दूर हो। सुख दुःख का सम्बन्ध कुछ अंश में मन से अवश्य है, तथापि भौतिक पदार्थों के बिना तो मनुष्य का निर्वाह ही नहीं हो सकता। प्रत्येक मनुष्य को भोजन, वस्त्र आदि की भिन्न भिन्न प्रकार की अनेक आवश्यकताएँ होती हैं। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये भाँति भाँति की वस्तुओं को बनाने या तैयार करने का प्रश्न उपस्थित होता है। किसी भी सांसारिक मनुष्य के जीवन पर ध्यान दिया जाय तो मालूम होगा कि उसे प्रायः धनोत्पत्ति का ध्यान रहता है। जिसके पास धन नहीं, या जो बहुत गरीब है, वह अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति न कर सकने से दुःखी रहता है। अतः मनुष्य के बहुत से कामों का लक्ष्य यह होता है कि उसे धन मिले। एक आदमी दिन भर परिश्रम करके जंगल से घास या लकड़ी लाता है, दूसरा किसी व्यक्ति के पास, अथवा परिवार या संस्था में नौकरी करता है, तीसरा दुकानदारी करता है, चौथा डाक्टर या लेखक है। ये सब अपना कार्य प्रायः इसी लिये तो करते हैं कि इन्हें धनोत्पादन करना है। प्रायः मनुष्यों की बहुत सी शक्ति और

समय धनोत्पत्ति में लग जाता है। मानव जीवन का एक विशेष कार्य धनोत्पत्ति ही बना हुआ है।

उत्पत्ति का अर्थ; उपयोगिता-वृद्धि अब हम तनिक यह विचार करें कि अर्थशास्त्र में 'उत्पत्ति' का अर्थ क्या है। इस प्रसंग में इस प्रश्न पर भी ध्यान देना है कि क्या मनुष्य वास्तव में कोई ऐसी चीज पैदा कर सकता है, जो सर्वथा नयी हो अर्थात् जो किसी न किसी रूप या स्थान आदि में पहले से विद्यमान न हो।

'उत्पत्ति' शब्द का अर्थ है ऊपर आना। जो वस्तु नीचे दबी हुई या छिपी हुई थी, वह ऊपर आ गयी। जो गुप्त रूप या स्थान आदि में थी, वह प्रकट हो गयी। इसका यह अर्थ नहीं है कि जो वस्तु पहले नहीं थी उसका नया अस्तित्व हुआ। वास्तव में यह तो हो ही नहीं सकता। भारतवर्ष के ऋषियों ने चिरकाल से इस सिद्धान्त की घोषणा कर रखी है कि अभाव से भाव नहीं हो सकता, और इसी प्रकार भाव से अभाव भी नहीं हो सकता।* विज्ञान के विद्यार्थी भली भाँति जानते हैं कि कोई सर्वथा नया पदार्थ† नहीं बनाया जा सकता (और न किसी विद्यमान पदार्थ का सर्वथा नाश ही किया जा सकता है। जिसे नाश करना कहा जाता है, वह भी वास्तव में रूपान्तर होना ही है।)

उदाहरण के लिये दर्जी कोट सी कर लाता है। साधारण बोल-चाल में कहा जाता है कि दर्जी ने कोट बनाया। परन्तु क्या दर्जी कोई सर्वथा नयी चीज बनाता है? उसे कपड़ा मिला

---

* नासतो विद्यते भावो ना भावो विद्यते सतः। —भगवद्गीता

† Matter

था, उसे उसने काट कर एक खास माप का सी दिया है। उसने कपड़े को अधिक उपयोगी बनाने के लिये उसका रूप या आकार आदि बदल दिया है। अच्छा, अगर यह कहा जाय कि जुलाहे ने कपड़ा बनाया है, तो उसने भी कोई सर्वथा नयी वस्तु नहीं बनायी। उसने सूत लेकर उसका कपड़ा बुन दिया है, अर्थात् उसका रूप इस प्रकार बदल दिया है कि वह अब दर्जी के लिये सूत की अपेक्षा अधिक उपयोगी हो गया है। इसी प्रकार सूत कातने वाले ने भी कोई नयी वस्तु नहीं बनायी, उसने धुनी हुई रूई ली, और उससे सूत काता, जिससे वह जुलाहे के लिये रूई की अपेक्षा अधिक उपयोगी हो गया। सूत कातने वाले से पहले रूई धुनने वाले ने रूई को धुना और कपास ओटने वाले ने कपास ओट कर रूई तैयार की। इन्होंने भी कोई नयी वस्तु तैयार न कर पूर्व-प्राप्त वस्तु का रूपान्तर किया है, जिससे वह पूर्वापेक्षा अधिक उपयोगी हो गयी। अस्तु, शायद यह कहा जाय कि कपास पैदा करने वाले किसान ने तो नयी वस्तु पैदा की है। परन्तु विचार करने पर विदित होगा कि उपर्युक्त अन्य व्यक्तियों की भाँति किसान ने भी कोई सर्वथा नयी वस्तु नहीं तैयार की। उसने कपास के बीज (बिनौले) लिये, उन्हें जमीन में बोकर, तथा खाद और पानी देकर खेती करी। हवा, मिट्टी, और पानी की सहायता से बिनौलों से कपास के पेड़ पैदा हुए, जिनसे कपास मिली। इस प्रकार उसने बिनौलों का रूपान्तर करके उनको अधिक उपयोगी वस्तु, अर्थात् कपास पैदा की।

निदान, उपर्युक्त किसी भी व्यक्ति ने कोई सर्वथा नयी चीज पैदा नहीं की। प्रत्येक ने किसी वस्तु को लेकर उसके रूप आदि का कुछ परिवर्तन किया, जिससे वह पहले से अधिक उपयोगी हो गयी। इस उपयोगिता-वृद्धि को ही अर्थ शास्त्र में 'धनोत्पत्ति' कहते हैं। स्मरण रहे, कि प्रत्येक वस्तु थोड़ी बहुत उपयोगी तो

पहले से ही होती है। मनुष्य अपने विविध प्रयत्नों से उस उपयोगिता को बढ़ाने का कार्य करता है। उपर्युक्त उदाहरण में बिनौले कुछ उपयोगी तो हैं ही, पर किसान ने खेती करके, कपास को बिनौलों से अधिक उपयोगी बनाया, उसके बाद कपास ओटने वाले, रुई धुनने वाले, सूत कातने वाले, कपड़ा बुनने वाले और दर्जी ने क्रमशः उपयोगिता-वृद्धि का कार्य किया।

स्मरण रहे कि वही उपयोगिता-वृद्धि उत्पत्ति कही जाती है, जिसका आर्थिक दृष्टि से कुछ मूल्य हो, जिसके होने से उस वस्तु का मूल्य पहले से अधिक हो जाय, अर्थात् उस के बदले में उपयोगी वस्तु पहले से अधिक मिल सके।

उपयोगिता-वृद्धि किस किस प्रकार से होती है, अर्थात् उत्पत्ति के कितने भेद हैं, इसका विचार आगे किया जायगा। यहाँ हमें यही बतलाना अभीष्ट है कि अर्थशास्त्र में उत्पत्ति से अभिप्रायः उपयोगिता-वृद्धि का होना है। अब हम इस बात का विचार करते हैं कि मनुष्य को उत्पत्ति की आवश्यकता क्यों होती है।

उत्पत्ति की आवश्यकता; अपने लिये—पहले कहा जा चुका है कि संसार यात्रा के लिये प्रत्येक व्यक्ति को भोजन वस्त्रादि की आवश्यकता होती है। साधु सन्यासियों को भी, जो अपने आप को बहुत विरक्त समझते हैं, यह आवश्यकताएँ होती हैं। 'भूखे भजन न होय गोपाला,' कहावत प्रसिद्ध है। अस्तु, अब प्रत्येक व्यक्ति को विविध वस्तुओं की आवश्यकता होती है, तो उसे उनकी पूर्ति का प्रयत्न करना चाहिये। जो व्यक्ति ऐसा प्रयत्न नहीं करता, उसका जीवन-धारण तभी हो सकता है, जब उसके लिये ऐसा प्रयत्न कोई दूसरा आदमी करे। ऐसी दशा में वह व्यक्ति स्वावलम्बी नहीं होगा, वह परावलम्बी कहा जायगा। और संसार

में कुछ काम न करने वाले, परावलम्बियों की संख्या बहुत परिमित ही रह सकती है। सर्व साधारण आदमी दूसरों के लिये काम करते नहीं फिरते, उन्हें तो अपनी तथा अपने परिवार वालों की ही आवश्यकताओं की पूर्ति की चिन्ता से छुटकारा नहीं होता। अस्तु, प्रत्येक व्यक्ति को अपनी शक्ति तथा परिस्थिति के अनुसार धन उत्पन्न करने का प्रयत्न करना होता है, और करना चाहिये।

हाँ, इसका मतलब यह नहीं कि जिसको जो चीज़ चाहिये, वही उस चीज को उत्पन्न करे, या बनाए; और दूसरे व्यक्ति उसमें सहयोग या सहायता न करें। यदि ऐसा हो तो समाज का काम ही न चले। कल्पना करो, एक आदमी को अन्न उत्पन्न करना है, अब यदि उसके पास बीज बैल आदि न हों तो उसे इन वस्तुओं को दूसरे आदमियों से लेना ही पड़ेगा। फिर, उसे कपड़े की भी तो जरूरत है। और, अगर वही आदमी कपड़ा भी तैयार करने में लगे, तो उसका अन्न पैदा करने का काम रुक जाय, और उसे भूखा ही मरना पड़े। यह उदाहरण ऐसी स्थिति के हैं, जब मनुष्य का जीवन सरल होता है, उसकी आवश्यकताएँ इनी गिनी होती हैं। यदि आज कल की सी स्थिति का विचार किया जाय, तो समस्या का और भी बृहत् स्वरूप सामने आ जायगा।

आजकल साधारण व्यक्तियों को भी सैकड़ों चीजों की ज़रूरत होती है। एक व्यक्ति इन चीजों को कहाँ तक बना सकता है। जबकि सरल सादा जीवन व्यतीत करने की दशा में भी कोई आदमी अपनी आवश्यकताओं की सब वस्तुओं को उत्पन्न नहीं कर सकता, और ऐसा प्रयत्न करने से उसके भूखे मरने की नौबत आ जाती है, तो आधुनिक परिस्थिति में तो यह बात और भी अधिक चरितार्थ होगी। अस्तु, समाज में आदमी एक दूसरे

की सहायता और सहयोग से काम करते हैं। एक आदमी वह चीज़ पैदा करता है, जिसके लिये उसे अधिक सुविधा का साधन प्राप्त है। भले ही इस चीज़ की स्वयं उसे आवश्यकता न हो, या एक अल्प अंश में ही जरूरत हो। हाँ, यह चीज़ ऐसी होनी चाहिये, जिसकी दूसरों को आवश्यकता हो, वह दूसरों के लिये उपयोगी हो। अस्तु, ऐसा होने पर वह व्यक्ति उस वस्तु को दूसरों को देकर, अपनी आवश्यकता की वस्तु उनसे ले सकता है। इस प्रकार उत्पत्ति करने की आवश्यकता प्रत्येक व्यक्ति को है, बिना उत्पत्ति किये उसकी गुज़र नहीं होगी।

दूसरों के लिये--किसी व्यक्ति के धन की आवश्यकता, स्वयं अपने लिये ही नहीं होती दूसरों के लिये भी होती है। जनता में अनेक व्यक्ति ऐसे होते हैं, जिनके माता पिता उनके बाल्य काल में ही गुज़र जाते हैं, उनके भरण पोषण के लिये धन चाहिये। कितने ही आदमी, जन्म से, अथवा किसी दुर्घटनावश लंगड़े लूले, अन्धे, गूंगे या बहरे होते हैं, वे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकते, इनके जीवन-निर्वाह के लिये धन चाहिये। बहुत से बालक बालिकाएँ ऐसी होती हैं, कि उनके संरक्षकों की यह सामर्थ नहीं होती कि उनकी शिक्षा दीक्षा आदि की समुचित व्यवस्था कर सकें। इनके लिये भी धन की ज़रूरत होती है। कहाँ तक गिनावें, प्रत्येक देश और जाति में अनाथों और ग़रीबों की संख्या काफी होती है, इनकी दशा सुधारने के लिये भी धन की आवश्यकता है। निदान, स्वार्थ के विचार से देखिये, या परोपकार की दृष्टि से विचार कीजिये, धनोत्पत्ति का महत्व स्वयं सिद्ध है।

अतः प्रत्येक व्यक्ति को अपनी शक्ति के अनुसार अधिक से अधिक धन उत्पन्न करना, अपना कर्तव्य समझना चाहिये।

धन कोई खराब या त्याज्य वस्तु नहीं है। जब धन का दुरुपयोग होता है, तब ही उससे हानि होती है। उस के सदुपयोग से तो देश और समाज की उन्नति होती है, सुख शान्ति की वृद्धि होती है।

उत्पत्ति न करने वाले—ऊपर हमने कहा है कि क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति भोजन वस्त्रादि के रूप में विविध वस्तुओं को खर्च करने वाला है, प्रत्येक व्यक्ति उपभोक्ता है, इस लिये उसे उत्पादक भी होना चाहिये। जो आदमी उत्पादक नहीं है, वह दूसरों की कमाई खाता है, वह दूसरों पर, समाज तथा देश पर भार-स्वरूप है। अब, साधारण दृष्टि से तो दुनिया के अधिकांश आदमी उत्पादक हैं, वे कुछ न कुछ उत्पत्ति कार्य करते हैं, कोई अपने आप को मुफ्तखोरा कहलाना पसन्द न करेगा, परन्तु विचार करके देखा जाय तो अनेक आदमी ऐसे हैं, जो वास्तव में कुछ पैदा नहीं करते। हम लंगड़े लूले या अंधे आदि ऐसे अपाहिजों तथा उन बूढ़ों और रोगियों की बात नहीं कहते जो बेचारे कुछ उत्पत्ति कर ही नहीं सकते। हमारा संकेत बेकारों की ओर भी नहीं है, जो कार्य करने के इच्छुक होते हुए भी कुछ कार्य करने नहीं पाते। न हमारा अभिप्राय चोर, डाकू और लुटेरों से ही है, जिनकी सर्वथा निन्दा की जाती है, और जो राज्य में 'अपराधी' माने जाते हैं। हमारा मतलब उन व्यक्तियों से है जो उत्पत्ति करने में समर्थ होते हुए भी उत्पत्ति नहीं करते, और साथ ही, जिनकी, समाज में निन्दा या अपमान नहीं होता। उदाहरणार्थ, भारतवर्ष में हज़ारों नहीं, लाखों भिखारी और साधु सन्यासी ऐसे हैं, जो देश या समाज के लिये कुछ भी कार्य न करते हुए दूसरों का उत्पन्न धन खर्च करते हैं। इनके अतिरिक्त, बहुत से पुजारी, महन्त आदि दान धर्म पर निर्वाह करते हैं, इन का श्रम व्यक्तिगत दृष्टि से चाहे उत्पादक माना जाय, पर

समाज की दृष्टि से ये उत्पादक नहीं होते। जनता की श्रद्धा या धार्मिक भावनाओं के कारण उन्हें गुलछर्रे उड़ाने को, आराम-तलबी का जीवन व्यतीत करने को, काफी साधन प्राप्त हो जाते हैं, और वे अपना बहुत सा समय इधर उधर की गप-शप या भोग विलास आदि में खर्च करते हैं। ऐसे आदमियों का भारतवर्ष के अतिरिक्त अन्य देशों में भी अभाव नहीं है, हाँ, कहीं कुछ कम हैं, कहीं कुछ ज़्यादह।

प्रायः प्रत्येक देश में कितने ही आदमी ऐसे होते हैं जो स्वयं कुछ पैदा न कर अपने बाप दादा की संचित पूँजी के आधार पर ऐशोआराम करते हैं, अथवा सरकार की किसी विशेष उपलक्ष में की हुई खास कृपा से प्राप्त ज़मींदारी आदि की आमदनी पर मौज उड़ाते हैं। अनेक देशों में कितने ही ज़मींदार और पूँजीपति रहते हैं, इनमें से बहुत थोड़े ऐसे हैं, जो सामाजिक दृष्टि से कुछ वास्तविक उत्पादन कार्य करते हैं। इस प्रकार सोचा जाय तो जनता का एक खासा हिस्सा ऐसा मिलेगा जो यथेष्ट अथवा यथा-शक्ति जितनी चाहिये, उत्पत्ति नहीं करते, और इनमें कितने ही तो ऐसे हैं जो कुछ भी वास्तविक उत्पत्ति नहीं करते। यदि गम्भीरता-पूर्वक विचार किया जाय तो जो व्यक्ति बिना उत्पादन कार्य किये रहता है, और विविध वस्तुओं को अपने उपभोग में लाता है, वह अपने कर्तव्य की अवहेलना करता है, वह मानव परिवार में अप-राधी गिना जाना चाहिये, परन्तु समाज और राज्यों की ऐसी परम्परा बन गयी है, कि वह अपने इन अनेक अपराधियों को न केवल क्षमा करते रहते हैं, वरन् उन्हें अपराधी ही नहीं मानते। तथापि समाज-हितैषियों को चाहिये कि इस बात को भुला न दें; इसी हेतु इसका यहाँ उल्लेख किया गया है।

उत्पन्न पदार्थों को नष्ट करने वाले---अवश्य ही यह आश्चर्य और चिन्ता का विषय है, कि मानव समाज में ऐसे आदमी हों, जिन्हें स्पष्ट शब्दों में अंशतः अथवा पूर्णतः मुफ़्त-खोरे कहा जाना चाहिये। परन्तु इससे भी अधिक दुःख की बात यह है कि समाज में ऐसे भी आदमी हों, जो उत्पन्न पदार्थों को नष्ट करने में अपनी शक्ति और समय का व्यय (दुरुपयोग ?) करें। इनके दो भेद हैं। पहले उन लोगों का विचार किया जाय, जो आधुनिक पूंजीवाद की सृष्टि हैं, और, इस प्रकार वर्तमान सभ्यता के अधिकतम विकसित स्वरूप के फल हैं। तनिक निम्न-लिखित उद्धरण* को अवलोकन कीजिये।

"एक ओर व्यक्तियों की आवश्यकताएँ पूरी नहीं होतीं, और दूसरी ओर उत्पादन के क्षेत्र में तरक्की के क्षेत्र को रोका जा रहा है। यही नहीं, मौजूदा सम्पत्ति को नष्ट करने के लिए राज्य की ओर से क़ानून बनाए जाते हैं, और उसके लिए राष्ट्र का रुपया खर्च किया जाता है। १७ अक्तूबर १९३३ का 'न्यूज़ क्रानिकल' लिखता है कि यह एक बड़े दुख की बात है कि न्यूयार्क शहर में एक ओर स्त्री-पुरुष क्षुधा की पीड़ा से छटपटा रहे हैं, और दूसरी ओर सरकार की आज्ञा से ईओवा† में हज़ारों लाखों सुअर के बच्चे मार कर फिकवा दिए जाते हैं; और केन्सास और निब्रास्का में किसानों से उन का अनाज जलवा दिया जाता है।

"पूँजीवादी संसार अपनी विनाशकारी नीति को उत्पादन के क्षेत्र में तीन रूप में कार्यान्वित कर रहा है :—प्रथम मौजूदा

* 'नव राजस्थान' के, श्री 'तीव्र' बी० ए०, एल-एल० बी० के लेख से।

† Iowa.

उत्पादित सामान को नष्ट करना; दूसरा सम्पत्ति को नष्ट करने के लिए नए विभाग खोलना, और तीसरा न केवल उत्पादित सम्पत्ति को नष्ट करना, वरन् उत्पादन के साधनों को भी नष्ट करना।"

इस उद्धरण का आशय स्पष्ट है, इसकी और व्याख्या करने का यहाँ प्रसंग नहीं। पाठक विचार करें, कुछ समय पूर्व, सभ्यता का अर्थ यह लिया जाता था, कि जिस जगह अन्न की एक बाल पैदा होती है, वहाँ दो बाल पैदा करने का प्रयत्न किया जाय। अब सभ्यता में पैदा हुए अन्न को जलाया जा रहा है। बलिहारी है, इस परिवर्तन की!

हाँ, अब इसमें एक सुधार किया गया है। जब ऐसी नौबत आती है तो सरकार कुछ पैदावार को अगले वर्ष के लिये रखा देती है।* वह उत्पादकों को उस के उपलक्ष्य में कुछ रुपया उधार दे देती है, और, इस बात का आन्दोलन किया जाता है, कि आगामी वर्ष उस वस्तु की फसल कम की जाय।

अब हम ऐसे मनुष्यों के सम्बन्ध में लिखते हैं, जो पूँजीवाद की सृष्टि न होकर, उत्पत्ति का ह्रास करते हैं। एक आदमी बहुत सी मादक वस्तुएँ† तथा आतिशबाजी तैयार करता है। यह ठीक है कि समाज की वर्तमान अवस्था में उसे उसका मूल्य मिल जाता है, और वह अर्थशास्त्र में व्यक्तिगत दृष्टि से उत्पादक मान लिया है, परन्तु उससे समाज का क्या हित-साधन होता है? जिस मनुष्य ने उन मादक पदार्थों में रुपया

---

* यह बात उन्हीं वस्तुओं के सम्बन्ध में हो सकती है, जो जल्दी खराब होने वाली न हों, साल भर तक रह सकती हों।

† यहाँ इन वस्तुओं के उस भाग से अभिप्रायः है, जिसका उपयोग औषधियों में न होकर नशेबाजी के लिये किया जाता है।

खर्च करके घड़ी भर का झूठा आनन्द प्राप्त किया या वह आतिशबाज़ी मोल लेकर फूँकी, उस का वह रुपया यदि किसी उद्योग धन्धे आदि में लगता तो उत्पत्ति कार्य में उससे कैसी सहायता मिलती। पर उसने उसे मादक वस्तुओं या आतिशबाज़ी में लगा कर समाज और देश को उक्त उत्पत्ति से मिलने वाली सहायता से वंचित कर दिया है।

पाठक इसे साधारण बात न समझें। समाज में यह प्रवृत्ति बड़े पैमाने पर काम कर रही है, और इससे महान अनर्थ हो रहा है। प्रत्येक सभ्य और उन्नत कहे जाने वाले देशों में सैकड़ों और हज़ारों नहीं, लाखों आदमी गोला-बारूद, तलवार, तोप, मशीनगन, लड़ाकू जहाज़, आदि हिंसक सामग्री बनाने में लगे हुए हैं। इनका जीवन भर का एक-मात्र कार्य यही है कि दूसरों को मारने की सामग्री तैयार करें। कहा जाता है कि ये देश की रक्षा करते हैं, पर वस्तुतः यह दूसरों को पराधीन करने के साधन जुटाने में लगे होते हैं। इसी प्रकार स्थल-सेना, जल-सेना और वायु-सेना के लाखों सैनिकों का विचार किया जाय, वे देश की उत्पत्ति में क्या सहायक होते हैं? यह ठीक है, उन्हें अपनी नौकरी के उपलक्ष में वेतन मिलता है, और वे उत्पादक कहे जाते हैं, परन्तु सामाजिक दृष्टि से उनके कार्य का मूल्य क्या है? वे अपने पूर्वोक्त, शस्त्रागारों में काम करने वाले, बन्धुओं के बनाए सामान का उपयोग करके, मानव समाज को हिंसा में लगे हैं, और अन्य देशों को पराधीन करके उनके भी बहुत से निवासियों को फ़ौज में भरती करके, उन्हें भी सामाजिक दृष्टि से अनुत्पादक बना रहे हैं। आज दिन संसार में होने वाले युद्धों में कितना खाद्य तथा अन्य प्रकार का उपयोगी सामान नष्ट हो जाता है। जिन रेलों जहाज़ों आदि के बनाने में बहुमूल्य समय और द्रव्य लगता है, जिन मकानों को बनाने, और नगरों को बसाने में असंख्य

आदमियों के कितने ही वर्ष लग जाते हैं, वे युद्ध-काल में बात की बात में नष्ट कर दिये जाते हैं।

उत्पादन की दृष्टि से मानव समाज के भेद—इस प्रकार उत्पत्ति की दृष्टि से हम मनुष्यों के निम्न लिखित भेद कर सकते हैं :—

(१) बच्चे, बूढ़े, रोगी, अपाहज, जो उत्पत्ति कर नहीं सकते।

(२) बेकार, जिन्हें करने को कुछ काम धन्धा नहीं मिल पाता।

(३) भिखारी (साधु, सन्यासी), पुजारी, महन्त, चोर, लुटेरे, और धोखेबाज़, आदि, जो उत्पत्ति कर सकते हैं, परन्तु करते नहीं, और दूसरों की कमाई खाते हैं।

(४) ज़मींदार, तालुक़ेदार, सेठ साहूकार आदि जो अपने बाप दादा की संचित सम्पत्ति के आधार पर, या सरकार की विशेष कृपा के रूप में दी हुई जायदाद आदि के सहारे मौज करते हैं, और सामाजिक दृष्टि से कुछ उत्पादन कार्य नहीं करते।

(५) पूँजीवाद के भावों से प्रेरित होकर कितने ही आदमी चाहते हैं कि उनकी वस्तुओं के अधिक से अधिक दाम उठें। इस लिये जब वे समझते हैं कि उपर्युक्त उद्देश्य सिद्ध करने में कुछ उपभोग्य सामग्री का नष्ट करना सहायक होगा, तो वे ऐसा करने में संकोच नहीं करते। इसी के फल-स्वरूप अमरीका आदि देशों में समय समय अन्न या रुई की फसल जलाये जाने और फल बड़ी मात्रा में बहा दिये जाने की घटनाएँ होती हैं। इनका, तथा इनके सुधार का उल्लेख पहले किया जा चुका है।

(६) अनेक आदमी ऐसी वस्तु बनाते हैं, या ऐसे कार्य करते हैं, जिनकी सामाजिक दृष्टि से कुछ उपयोगिता नहीं।

इनमें से बहुत से औरों की बनायी या पैदा की हुई वस्तुओं को नष्ट करने के शस्त्रास्त्र बनाते हैं, शेष सैनिक के रूप में हिंसक कार्य करते हैं।

(७) वे आदमी जो भरसक श्रम करते हुए उत्पत्ति में लगे रहते हैं। इस श्रेणी के आदमियों की संख्या अन्य श्रेणियों के आदमियों से काफी अधिक होती है। परन्तु क्योंकि इनको स्वेच्छा से या बल-पूर्वक उपर्युक्त श्रेणियों का भी निर्वाह करना पड़ता है, अतः कुछ अन्य लोगों के साथ स्वयं इन के पास खाने पहिनने के साधन कम रह जाते हैं, इनमें से अनेक व्यक्तियों की आर्थिक दशा ख़राब होती है, और ये बड़ी दरिद्रता और दीनता का जीवन बिताते हैं।

विशेष वक्तव्य—उपर्युक्त वर्गीकरण को ध्यान में रखने से यह बात अच्छी तरह समझ में आ सकती है कि संसार में अनेक आदमी, उत्पत्ति का महत्व नहीं समझते और उत्पादन कार्य में योग नहीं देते। पूर्वोक्त श्रेणियों में चार ऐसी हैं जो उत्पत्ति में सहायक नहीं होतीं, और उत्पन्न पदार्थों के उपभोग में बराबर भाग लेने को तैयार रहती हैं। अनेक आदमी तो इनमें ऐसे हैं, जो औसत से कहीं अधिक सामान ख़र्च करते हैं। पाँचवीं और छठी श्रेणी तो ऐसी हैं जो खुद तो अच्छे से अच्छा खाती पीती ही हैं, नष्ट भी बहुत करती हैं। इनमें से पाँचवीं श्रेणी उत्पादन में भाग अवश्य लेती हैं, परन्तु वह समाज की दृष्टि से नहीं, स्वयं अपने लाभ के लिये। यही कारण है कि जब कभी उसे कुछ उत्पन्न पदार्थों को नष्ट करने से, शेष के अच्छे दाम मिलने की आशा होती है, तो वह बड़े बड़े परिमाण के पदार्थों को बात की बात में नष्ट कर देती है।

अन्ततः केवल अन्तिम एक श्रेणी रह जाती है, जो विशुद्ध रूप में, व्यक्तिगत तथा सामाजिक दोनों दृष्टियों से उत्पादक है,

और साथ ही, उत्पन्न पदार्थों को नष्ट नहीं करती। इस श्रेणी के आदमियों को अपने भी जीवन-निर्वाह का सामान पैदा करना होता है, और दूसरी छः श्रेणियों के लिये भी। यही नहीं, यह श्रेणी पाँचवीं और छठी श्रेणियों के लिये, नष्ट करने के वास्ते भी काफ़ी सामग्री प्रस्तुत करती है। इस श्रेणी के आदमी संख्या में काफी अधिक होते हैं, परन्तु प्रायः ये विद्या-बल या धन-बल से सम्पन्न नहीं होते। यही कारण है कि विज्ञान द्वारा उत्पत्ति के नये सुगम, सरल और औसतन अल्प व्यय-साध्य उपायों का ज्ञान हो जाने पर भी संसार में सुख शान्ति का प्रायः अभाव है।

लॉर्ड लीवरहाल्मे ने प्रो० स्पूनर की पुस्तक* की भूमिका में सन् १९१८ ई० में लिखा था कि 'विज्ञान ने हमारी सेवा में इतने साधन जुटा दिये हैं कि यदि हम लोग एक घंटे प्रति सप्ताह ही काम करें तो भी हम अपने खाने कपड़े और मकानों की आवश्यकताओं को शिशु काल से वृद्धावस्था तक पूरी कर सकते हैं।' इस बात को लिखे अब १८ वर्ष व्यतीत हो गये। इस बीच में विज्ञान ने दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति की है। अतः उक्त महाशय के हिसाब के अनुसार, अब तो प्रत्येक व्यक्ति को प्रति सप्ताह सम्भवतः आध घंटे ही काम करना पर्याप्त हो। किन्तु यह भी सम्भव है कि बहुत से पाठकों को उनके उक्त कथन में अत्युक्ति प्रतीत हो। हम इस बात का काफी लिहाज रखने को तत्पर हैं। अतः हमें उनके अनुमानित समय का दुगना चौगुना ही नहीं दस गुना तक भी मान लेने में आपत्ति नहीं है। अच्छा, हम प्रति दिन ही एक घंटा मान लेते हैं। अब तो किसी का कुछ विरोध न होगा। परन्तु हम देखते हैं, उन्नत देशों में भी श्रमजीवियों के काम करने के लिये प्रायः चालीस

* Wealth from Waste.

घंटे का सप्ताह माना जाता है। और, भारत जैसे देशों में तो अनेक आदमियों को अपने अपने घर या दुकान आदि पर प्रति दिन दस बारह घंटे अथवा इससे भी अधिक समय श्रम करना होता है; उन्हें साप्ताहिक छुट्टी भी नहीं मिलती, और इस पर भी निर्वाह मुश्किल से ही हो पाता है। इस का मतलब यह हुआ कि उन्हें औसत से जितने समय काम करने की आवश्यकता होनी चाहिये, उस की अपेक्षा दस बारह गुना समय काम करना पड़ता है। किमाश्चर्यमतः परम्! इसका रहस्य ऊपर के विवेचन से स्पष्ट हो जाता है—अधिकांश समाज उत्पत्ति का महत्व नहीं जानता, अथवा जो आदमी इसे जानते भी हैं, वे अपने इस ज्ञान का यथेष्ट उपयोग नहीं करते। यदि सब व्यक्ति उत्पत्ति का महत्व समझलें, तथा उत्पत्ति में भाग लेने लगें तो मानव जनता के इस समय जो विविध कष्ट या असुविधाएँ हैं, उन्हें दूर होने में विलक्षण सहायता मिले; संसार में सुख समृद्धि की वृद्धि हो, जिसे प्राप्त करने की प्रत्येक व्यक्ति को बड़ी इच्छा होती है।

यह पुस्तक प्रस्तुत करते हुए हम चाहते हैं कि पाठक उत्पत्ति का महत्व समझें तथा उत्पत्ति की वृद्धि के विविध उपायों का ज्ञान प्राप्त करके देश और समाज का हित-साधन करें।

दूसरा अध्याय

उत्पत्ति सम्बन्धी परिभाषाएँ

—:*:—

उत्पत्ति सम्बन्धी विवेचन करने के पहले कुछ पारिभाषिक शब्दों का अर्थ जान लेना बहुत आवश्यक है। इसलिए इस

अध्याय में कुछ ऐसे शब्दों का, अर्थशास्त्र की दृष्टि से विवेचन किया जाता है, जो उत्पत्ति के विषय का प्रतिपादन करने में काम में आते हैं।

वस्तु—अर्थशास्त्र में उन चीज़ों को वस्तु कहते हैं, जिनसे मनुष्य की तृप्ति होती है। इनमें से कुछ चीज़ें ऐसी होती हैं, जिनको हम देख सकते हैं, छू सकते हैं और जिनका विनिमय कर सकते हैं, जैसे किताब, लकड़ी, मोटर इत्यादि। कुछ ऐसी हैं जिनको हम देख नहीं सकते, जैसे मित्रता, प्रसिद्धि इत्यादि। पहले प्रकार की वस्तुएँ भौतिक कहलाती हैं, और दूसरे प्रकार की अ-भौतिक कही जाती है। कुछ वस्तुएँ विनिमय-साध्य होती है, और कुछ अ-विनिमय-साध्य।

वस्तुओं की एकाई—वस्तुएँ साधारणतः दो प्रकार की होती हैं। कुछ वस्तुएँ तो ऐसी होती हैं जिनको विभाजित करने से उनका मूल्य कम नहीं होता; जैसे यदि हम दस तोले का सोने का एक टुकड़ा लें, और उसके एक एक तोले के दस टुकड़े करें तो एक एक तोले वाले सब टुकड़ों का मूल्य दस तोले के टुकड़े के बराबर होता है। इस प्रकार की अन्य वस्तुएँ हैं, गेहूँ, चावल, दाल, कपड़ा, चाँदी, लोहा, इत्यादि। कुछ वस्तुएँ ऐसी हैं, जिनको विभाजित करने से मूल्य में बहुत कमी आ जाती है, जैसे यदि हम किसी कुर्सी के चार टुकड़े कर डालें तो चारों टुकड़ों का मूल्य कुर्सी के मूल्य के बराबर नहीं होता। इस प्रकार की अन्य वस्तुएँ हैं मकान, पुस्तक, छाता, कमीज़, गाय, बैल, घोड़ा इत्यादि।

जिन वस्तुओं का मूल्य विभाजित करने से कम नहीं होता, उनकी एकाई भिन्न भिन्न तुलना के लिये भिन्न भिन्न होती है; जैसे एक सेर गेहूँ, एक मन गेहूँ इत्यादि। गेहूँ को जब बड़े परिमाण

में तोलना होता है तो मन का उपयोग किया जाता है। कम परिमाण के लिये सेर ही से काम लिया जाता है। सेर का वज़न भी भारत के भिन्न भिन्न भागों में भिन्न भिन्न है। कहीं एक सेर १०० रुपये के वज़न के बराबर है, तो कहीं ८० रुपये के, और कहीं २८ ही रुपये के बराबर। परन्तु किसी एक समय में तुलना के लिये एक ही प्रकार के सेर का उपयोग किया जाता है। अन्य देशों में गेहूँ के तोल के लिये टन, हंडरवेट, पाउंड इत्यादि का उपयोग होता है। कपड़े को मापने के लिये गज़ का उपयोग होता है। सोना तोलने के लिये तोला, माशा और रत्ती का उपयोग होता है।

जिन वस्तुओं को विभाजित करने से मूल्य में कमी होती है उनकी एकाई एक रहती है जैसे एक मकान, एक गाय, एक पुस्तक, एक कुर्सी इत्यादि।

धन या सम्पत्ति—लौकिक व्यवहार में किसी मनुष्य के धन या सम्पत्ति से उसका रुपया, ज़ेवर, मकान, ज़मीन इत्यादि बहुमूल्य वस्तुओं का बोध होता है, और वही मनुष्य धनवान कहा जाता है जिसके पास ऐसी वस्तुएँ बहुतायत से हों। लेकिन अर्थशास्त्र में केवल इन्हीं चीजों को 'धन' नहीं कहते। इस शब्द का प्रयोग अधिक उदारता से किया जाता है। अर्थशास्त्र में उन सब वस्तुओं को धन कहते हैं जो उपयोगी और विनिमय-साध्य हों। कोई वस्तु विनिमय-साध्य तब कही जाती है, जब उसके बदले में कोई अन्य उपयोगी वस्तु प्राप्त हो सके। उदाहरण के लिए हवा को लीजिये। यह उपयोगी है, लेकिन विनिमय-साध्य नहीं। इसलिए इसकी गणना धन में नहीं हो सकती। लेकिन किसी व्यवसाय की प्रसिद्धि (ख्याति) उपयोगी भी है, और विनिमय-साध्य भी है। इसका क्रय-विक्रय हो सकता है। इसलिये यह वस्तु धन में शामिल की जा सकती है। कई एक

अर्थशास्त्रज्ञों का कहना है कि किसी वस्तु की धन में गणना होने के लिए यह आवश्यक है कि उसकी संख्या परिमित हो, और वह श्रम से प्राप्त हो सके। ये गुण उसके विनिमय-साध्य होने के लिये आवश्यक होते हैं। इसलिये धन में हम विनिमय-साध्य वस्तुओं को ही शामिल करते हैं, फिर चाहे ये वस्तुएँ भौतिक हों या अ-भौतिक।

उपयोगिता—उपयोगिता किसी वस्तु का वह गुण है जिससे उस वस्तु की चाह होती है। इसका सम्बन्ध मन से होता है। इसलिए हम किसी वस्तु की उपयोगिता का वर्णन किसी माप या तौल से नहीं कर सकते। चूँकि प्रत्येक मनुष्य की इच्छा या रुचि में कुछ न कुछ भिन्नता होती है इसलिए किसी एक खास वस्तु की उपयोगिता प्रत्येक मनुष्य को बराबर नहीं होती। किसी वस्तु का मूल्य तय करने में लोग उस वस्तु की उपयोगिता का विचार अवश्य करते हैं।

यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि हम किसी वस्तु विशेष को उत्पन्न या नष्ट नहीं कर सकते। हम केवल उपयोगिता ही उत्पन्न कर सकते हैं। उदाहरण के लिए कुर्सी को लीजिये बढ़ई ने अपने औजारों की मदद से लकड़ी का रूपान्तर करके उसमें लकड़ी से ज्यादा उपयोगिता लादी है, लकड़ी उसने उत्पन्न नहीं की। इसी प्रकार काम में आते-आते कुर्सी की उपयोगिता नष्ट होती जाती है। कुर्सी टूट जाती है, लकड़ी पड़ी रहती है, लेकिन कुर्सी काम की नहीं रहती।

उपयोगिता की एकाई—किसी वस्तु की उपयोगिता भिन्न भिन्न मनुष्यों को भिन्न भिन्न होती है। एक ही वस्तु की उपयोगिता भी किसी मनुष्य के लिये भिन्न भिन्न परिस्थितियों में भिन्न भिन्न होती है। इसलिये भिन्न भिन्न मनुष्यों की दृष्टि से

उपयोगिता की तुलना साधारणतः नहीं की जा सकती; और न किसी एक मनुष्य के लिये भिन्न परिस्थितियों में वस्तुओं की तुलना ही की जा सकती है। हम केवल किसी एक समय में, जब कि किसी एक मनुष्य की परिस्थिति में परिवर्तन नहीं होता, उसकी भिन्न भिन्न वस्तुओं से प्राप्त होने वाली उपयोगिता का अन्दाजा लगा कर तुलना कर सकते हैं। किसी वस्तु के उपभोग करने से सन्तोष प्राप्त होता है। इसी संतोष का अन्दाजा लगा कर हम वस्तुओं की उपयोगिता का अंदाजा लगाते हैं। इस तुलना के लिये यह मान लिया जाता है कि किसी एक खास वस्तु के उपभोग से जो संतोष प्राप्त होता है, वह एक के बराबर है, और उसकी उपयोगिता भी एक है। अब अन्य वस्तुओं के उपभोग से प्राप्त संतोष की तुलना, इस प्रथम वस्तु के उपभोग से प्राप्त संतोष से की जाती है और उसी के अनुसार उनकी उपयोगिता बतलाई जाती है। मान लीजिये कि किसी मनुष्य ने एक समय एक केला और एक आम खाया। दोनों के उपभोग से उसे कुछ सन्तोष प्राप्त हुआ; आम के उपभोग से जो संतोष प्राप्त हुआ, वह केले के उपभोग से प्राप्त सन्तोष से करीब चैागुना था। अब यदि हम मान लें कि एक केले की उपयोगिता उसे एक है तो एक आम की उपयोगिता उसे चार होगी। इसी प्रकार यदि एक रोटी खाने से उसे उस समय जो सन्तोष हुआ उसकी मात्रा एक केले के उपभोग से प्राप्त सन्तोष से दस गुनी है तो एक रोटी की उपयोगिता उसे दस होगी। अब यदि दूसरी रोटी खाने से उसे जो सन्तोष प्राप्त हुआ, वह एक केले के उपभोग से प्राप्त सन्तोष से पाँच गुना है तो दूसरी रोटी की उपयोगिता उसे पाँच होगी। यहाँ एक केले की उपयोगिता एक मानी गयी है, यही उस समय सब वस्तुओं की उपयोगिता की तुलना करने के लिये उपयोगिता की इकाई है, और एक केले के उपभोग से

प्राप्त सन्तोष से, अन्य वस्तुओं के उपभोग से प्राप्त सन्तोष की तुलना करके ही अन्य वस्तुओं की उपयोगिता की मात्रा बतलायी गयी है।

जब कभी किसी एक मनुष्य के लिये वस्तुओं की उपयोगिता की तुलना की जाती है तब उस तुलना के लिये उपयोगिता की कोई एकाई मान ली जाती है, और उस समय सब वस्तुओं की उपयोगिता का अनुमान इसी एकाई के अनुसार लगाया जाता है; परन्तु यह हमेशा ध्यान में रखना चाहिये कि भिन्न भिन्न तुलनाओं के लिये उपयोगिता की एकाई भिन्न भिन्न रहती है। यदि एक समय वस्तुओं की उपयोगिता की तुलना करने के लिये एक मनुष्य को एक केले के उपभोग से प्राप्त सन्तोष को एक के बराबर मान लिया गया और उसकी उपयोगिता एक मान ली गयी, तो किसी अन्य समय उसी मनुष्य की वस्तुओं की उपयोगिता जानने के लिये यह आवश्यक नहीं है कि एक केले की उपयोगिता इस समय भी एक ही मानी जाय। दोनों समय में एक केले की उपयोगिता बराबर भी न होगी, क्योंकि मनुष्य की परिस्थिति के अनुसार केले की उपयोगिता भिन्न हो जायगी। प्रत्येक तुलना के लिये उपयोगिता की कोई एकाई मान ली जाती है और उसी के अनुसार उस समय उसी मनुष्य की सब वस्तुओं की उपयोगिता के परिमाण का अन्दाजा लगाया जाता है।

सीमान्त उपयोगिता—यदि किसी मनुष्य के पास दस सेर गेहूँ हों, तो दसवें सेर की उपयोगिता दस सेर गेहूँ की सीमान्त उपयोगिता मानी जाती है। इस प्रकार, वस्तु के किसी परिमाण की सीमान्त उपयोगिता उस वस्तु की अन्तिम एकाई की उपयोगिता को कहते हैं। सीमान्त उपयोगिता और कुल उपयोगिता में बहुत अन्तर है। दस सेर गेहूँ की कुल उपयोगिता दसों सेर गेहूँ की उपयोगिता के योग के बराबर होती है, जबकि

उसकी सीमान्त उपयोगिता केवल दसवें सेर की उपयोगिता के बराबर है। यदि किसी मनुष्य के पास एक ही सेर गेहूँ हो तो उसकी सीमान्त उपयोगिता और कुल उपयोगिता एक-सी होगी। परन्तु जैसे जैसे वस्तु का परिमाण बढ़ता जायगा सीमान्त उपयोगिता और कुल उपयोगिता में भी अन्तर बढ़ता जायगा।

मूल्य—इस शब्द का व्यवहार दो प्रकार से किया जाता है। कभी कभी मूल्य शब्द का प्रयोग उपयोगिता के अर्थ में भी किया जाता है। जैसे हम कहते हैं कि अमुक वस्तु बहुमूल्य है। लेकिन यह अर्थ गौण है। अर्थशास्त्र में इस प्रकार के मूल्य के लिए हम उपयोगिता शब्द का उपयोग करते हैं।

मूल्य शब्द का प्रधान अर्थ विनिमय-मूल्य होता है। जब हम किसी वस्तु के बदले में एक दूसरी वस्तु को लेते हैं तो दूसरी वस्तु का परिमाण पहली वस्तु का मूल्य कहलाता है। जैसे अगर हम एक गाय के बदले तीन बकरियाँ ले लें तो उस गाय का मूल्य तीन बकरियाँ हुआ। यह व्यावहारिक मूल्य भी कहलाता है। इस मूल्य की नींव उपयोगिता में होती है; क्योंकि जब किसी मनुष्य की दृष्टि में तीन बकरियों की उपयोगिता एक गाय से अधिक या कम से कम उसके बराबर न हो, और उसके होश हवास दुरुस्त हों तो वह एक गाय के बदले तीन बकरियाँ कभी न लेगा।

क़ीमत—किसी वस्तु की एकाई का, द्रव्य के रूप में मूल्य उसकी क़ीमत कहलाती है। अगर हमें एक गाय साठ रुपये में प्राप्त होती है, तो ६०), गाय की क़ीमत हो गयी।

पहले ज़माने में जब रुपया-पैसा विनिमय का माध्यम नहीं था तब वस्तुओं की अदल-बदल से काम किया जाता था। लेकिन इससे बहुत असुविधा होती थी। इस असुविधा को दूर

करने के लिये रुपया-पैसा विनिमय का ऐसा माध्यम निकाला गया जो सब लोगों को रुचिकर है और जिससे वस्तुओं के क्रय-विक्रय में बहुत सुविधा हो गयी है। आज कल के व्यवहार और व्यवसाय में किसी भी वस्तु का मूल्य द्रव्य में ही प्रकट किया जाता है।

द्रव्य—वह वस्तु जो विनिमय का माध्यम हो, द्रव्य कह-लाती है। इससे विनिमय बड़ी आसानी से हो सकता है। प्राचीन काल में जब कि द्रव्य का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था तब मनुष्यों को अपनी आवश्यकता की वस्तुओं को प्राप्त करने में बड़ी दिक़्क़त होती थी। उनको किसी ऐसे आदमी को ढूँढ़ना पड़ता था, जिसके पास उसकी आवश्यकता की वस्तुएँ हों, और जिसको उसकी वस्तुओं की आवश्यकता हो। अब द्रव्य के माध्यम से लोग अपनी वस्तुओं के बदले में द्रव्य प्राप्त करके, फिर द्रव्य के विनिमय से अपनी आवश्यकीय वस्तुओं को प्राप्त करते हैं। आज कल संसार में धात्विक और काग़ज़ी दोनों ही प्रकार के द्रव्य का चलन है। धात्विक द्रव्य के सिक्कों का वज़न और शक्ल किसी देश की सरकार द्वारा निश्चित की जाती है। काग़ज़ी द्रव्य का संचालन भी सरकार ही करती है। अधिकतर काग़ज़ी द्रव्य विनिमय-साध्य होते हैं अर्थात् सरकार काग़ज़ी द्रव्य के बदले धात्विक द्रव्य देने का वादा करती है। कोई कोई काग़ज़ी द्रव्य अत्यधिक परिमाण में चलाये जाने के कारण विनिमय-साध्य नहीं भी होते।

तीसरा अध्याय

उत्पत्ति के भेद

—:*:—

इस अध्याय में हमें उत्पत्ति के भेदों का विचार करना है। इस पुस्तक के आरम्भ में ही यह बताया जा चुका है कि अर्थशास्त्र में उत्पत्ति का अर्थ उपयोगिता-वृद्धि है। अतः यदि हम उत्पत्ति के भेद जानना चाहें तो वास्तव में विचारणीय प्रश्न यह होता है कि वस्तुओं की उपयोगिता-वृद्धि किस किस प्रकार से की जाती है।

उपयोगिता-वृद्धि के भेद; रूप-परिवर्तन—कुछ दशाओं में किसी वस्तु के रूप में आवश्यक परिवर्तन करने से उसकी उपयोगिता बढ़ जाती है। उदाहरणवत् जब दर्ज़ी कपड़े की काट-छाँट करके, किसी व्यक्ति के लिये कोट सी देता है, तो वह उस कपड़े को उस व्यक्ति के लिये पहले से अधिक उपयोगी बना देता है। इसी प्रकार बढ़ई लकड़ी चीर कर उसकी मेज़ कुर्सी बनाता है, कुम्हार मिट्टी से बर्तन और ईंटें आदि बनाता है, और सुनार सोना चाँदी से आभूषण या बर्तन बनाता है, ये सब वस्तु का रूपान्तर करके उसे अधिक उपयोगी बनाते हैं।

रूप-परिवर्तन द्वारा उपयोगिता-वृद्धि करने से कच्चा माल पैदा होता है, तथा तैयार माल बनता है। कच्चा माल पैदा करने में खेती-बाड़ी और पशुपालन सम्बन्धी व्यवसाय सम्मिलित हैं। खेती-बाड़ी में अन्नादि के उत्पादन का कार्य प्रकृति द्वारा होता रहता है, मनुष्य केवल बीज, खाद, पानी आदि की व्यवस्था

करके प्रकृति के कार्य में सहायक होता है और उस को गति का बढ़ाता है। वह थोड़े से बीज का रूपान्तर करके उस से बहुत सा अन्न आदि पैदा करता है। इससे उस बीज की उपयोगिता बढ़ जाती है, और उससे बहुत से आदमियों की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। इसी प्रकार पशु पालन में पशुओं की वृद्धि तो प्रकृति द्वारा होती है। मनुष्य उनके लिये आवश्यक भोजन आदि का प्रबन्ध करके तथा उनकी रक्षा करके प्रकृति के कार्य में सहायक होता है, और इस प्रकार पशुओं की, रूपान्तर द्वारा उपयोगिता-वृद्धि में भाग लेता है।

तैयार माल बनाने में मनुष्य कच्चे माल का इस प्रकार रूपान्तर करता है जिससे वह मनुष्यों के लिये अधिक उपयोगी हो जाय। उदाहरणार्थ अन्न से रोटी, बिस्कुट और मिठाई बनायी जाती है, लकड़ी से मेज़, कुर्सी, तख़्त आदि सामान बनाया जाता है, और रूई से भांति भांति के वस्त्र बनाये जाते हैं। इस प्रकार विविध शिल्प और उद्योग-धंधे रूपान्तर द्वारा उपयोगिता-वृद्धि के उदाहरण हैं।

स्थान-परिवर्तन—स्थान-परिवर्तन द्वारा उपयोगिता-वृद्धि करने में यातायात या बारबर्दारी द्वारा होने वाला कार्य सम्मिलित है। जिस जगह जो पदार्थ अधिक मात्रा में हैं, वहां से जब उन्हें उन स्थानों में ले आया जाता है, जहां वे कम मात्रा में हैं, अथवा उनको अधिक आवश्यकता है, तो उनकी उपयोगिता बढ़ जाती है। इसका सब से अच्छा उदाहरण खनिज पदार्थों का खान से निकाल कर या लकड़ियों को जंगल से काट कर बाज़ार में ले आने का है। लोहे, कोयले, और भांति भांति के पत्थर आदि की अपनी खान के पास, तथा लकड़ियों की जंगल में, प्रायः बहुत कम उपयोगिता होती है। जब इन चीज़ों को वहां से गाड़ी, मोटर या रेल आदि द्वारा बाजार में ले आया जाता है, तो इन का

स्थान परिवर्तन होने से इनकी उपयोगिता बढ़ जाती है। अन्न, शाक, फलों को भी खेतों या बगीचों से मंडी में ले जाने से उनकी उपयोगिता बढ़ाई जाती है। यदि नागपुर के सन्तरे, कश्मीर के सेव और काबुल की मेवा को भिन्न भिन्न स्थानों में न पहुँचाया जाय तो ये पदार्थ इतने उपयोगी न बनें, और अपनी उत्पत्ति के स्थान में पड़े रह कर बहुत कुछ नष्ट हो जाया करें। मछली, मोती, शंख आदि नदियों और समुद्रों से निकाले जा कर दूर दूर के स्थानों में ले जाये जाते हैं तो इनकी भी उपयोगिता कितनी बढ़ जाती है। ये सब ऐसे उदाहरण हैं, जिनमें पदार्थों का रूप-परिवर्तन नहीं होता, वरन् स्थान-परिवर्तन मात्र से उनकी उपयोगिता-वृद्धि हो जाती है।

कुछ लेखकों का मत है कि खनिज कार्य तथा जंगल से लकड़ी काट कर लाना, रूप-परिवर्तन द्वारा उपयोगिता वृद्धि है। यद्यपि खान में से किसी धातु के टुकड़ों को, या जंगल से लकड़ियों को काट कर लाने में उनका रूप पूर्णतः वैसा नहीं रहता, जैसा खान या जंगल में होता है, तथापि इस में विशेष अन्तर भी नहीं होता। यहाँ जो उपयोगिता-वृद्धि होती है, वह विशेषतया स्थान-परिवर्तन से ही होती है। हाँ, जब धातु को खान से निकाल कर तथा उसे शुद्ध करके लाया जाता है, तो इस में स्थान के साथ रूप में भी परिवर्तन होता है। इस दशा में उपयोगिता-वृद्धि के दो प्रकार एक साथ काम करते हुए मिलते हैं। इसी प्रकार यदि जंगल से लकड़ी काट कर और उसके तख्ते चीर कर लाये जायँ तो उस में भी स्थान एवं रूप दोनों के परिवर्तन से उपयोगिता-वृद्धि हुई, ऐसा कहा जायगा।

अधिकारी परिवर्तन—कुछ दशाओं में ऐसा होता है कि पदार्थ का रूप या स्थान आदि नहीं बदलता, केवल उस का अधिकारी बदलने से ही उस की उपयोगिता बहुत बढ़ जाती है।

इसमें सौदागरों, आढ़तियों और दलालों का कार्य सम्मिलित है। इनके द्वारा पदार्थ को उन व्यक्तियों से लिया जाकर, जिनके वास्ते उसकी उपयोगिता कम है, उन लोगों को दिया जाता है, जिन के लिये उसकी उपयोगिता अधिक है। उदाहरणार्थ एक आदमी के पास एक हज़ार मन अनाज भरा हुआ है। उस के लिये वह जितना उपयोगी है, साधारण गृहस्थों के लिये वह उसकी अपेक्षा कहीं अधिक उपयोगी है। इसलिये जो दुकानदार बड़े बड़े ज़मींदारों या व्यापारियों से अन्न खरीद कर उसे साधारण लोगों के पास पहुँचाते हैं, अन्न पर अधिकारियों का परिवर्तन कराते हैं, वे उसकी उपयोगिता-वृद्धि में सहायक होते हैं। इस लिये अर्थशास्त्र में इन्हें उत्पादक कहा जाता है।

भू-सम्पत्ति और मकानात प्रायः दलालों द्वारा बेचे जाते हैं। भूमि पर आरम्भ में किसी व्यक्ति विशेष का अधिकार न था, कोई भी व्यक्ति जितनी भूमि चाहता, जोत बो सकता था, पर पीछे क्रमशः उस पर विविध व्यक्तियों ने अधिकार कर लिया। जो भूमि जिसके अधिकार में आ गयी, वह उसी की हो गयी। उपनिवेशों में बसने वाले लोगों ने आदिम निवासियों की भूमि पर अधिकार कर लिया, और उसे क्रमशः अधिकाधिक उपयोगी बना लिया। आस्ट्रेलिया आदि में पहले कुछ विशेष पैदावार न थी, अब वहाँ से लाखों रुपये का गेहूँ आदि प्रतिवर्ष बाहर जाता है।

सरकार धनवानों से बहुत सा रुपया कर आदि में वसूल करके सार्वजनिक कार्यों में, विशेषतया निर्धनों की शिक्षा और स्वास्थ्य आदि की वृद्धि के लिये खर्च करती है। यह भी अधिकारी परिवर्तन द्वारा उपयोगिता-वृद्धि का एक उदाहरण है। यदि वह रुपया धनवानों के पास रहता तो उनके पास रुपया काफ़ी बड़े परिमाण में रहने से उनके लिये वह इतना उपयोगी न होता,

जितना वह निर्धनों के लिये खर्च किया जाने की दशा में हो जाता है, जिनके पास रुपया बहुत कम है।

सुरक्षित-करण या संचय—कुछ पदार्थ ऐसे हैं कि वे किसी खास समय या ऋतु में ही अधिक होते हैं, और उनकी आवश्यकता भविष्य में होती है। यदि उन्हें सुरक्षित या संचित करके रखा जाय तो उनकी उपयोगिता बहुत बढ़ जाती है। इस उपयोगिता-वृद्धि में व्यापार द्वारा होने वाला बहुत सा कार्य सम्मिलित है। गुड़, चावल, शराब आदि पदार्थ पुराने होने पर अधिक उपयोगी होते हैं, परन्तु यदि इन्हें उचित रीति से न रखा जाय तो ये खराब हो जायँगे। अतः व्यापारी इस बात का प्रबन्ध करते हैं कि ये खराब न होने पावें, और भविष्य के लिये उस समय तक रखे रहें, जब इनकी आवश्यकता अधिक हो। प्रत्येक प्रकार का अन्न अपनी फसल के अवसर पर अधिक परिमाण में होने से उतना उपयोगी नहीं होता, जितना पीछे होता है। अतः व्यापारी उसे कोठों या खत्तियों में भर रखते हैं, और साल के शेष महीनों में, अगली फसल के आने तक उपयोग में लाते हैं, अथवा कभी कभी तो जब कि अगली फसल बाढ़ या कीड़े से खराब हो जाती है, अथवा अनावृष्टि आदि के कारण अच्छी नहीं होती, पिछली फसल का अन्न अगले साल तक उपयोग में लाया जाता है।

रुपया बैंक में जमा करना या उधार देना भी, सुरक्षित या संचित करके भविष्य के लिये उसकी उपयोगिता-वृद्धि करने का उदाहरण है। एक आदमी के पास अपना साधारण खर्च चलाने के उपरान्त यदि कुछ रुपया शेष रहता है तो इस रुपये की उपयोगिता उसके लिये इस समय बहुत कम होती है। वह सोचता है कि कुछ समय बाद वह उसे किसी ऐसे व्यवसाय आदि में लगा सकता है, जिस से वह इस समय की अपेक्षा बहुत

अधिक उपयोगी हो। अथवा, सम्भव है किसी समय वह बीमार या बेकार ही हो जाय, उस समय उस के पास रोज़मर्रा का खर्च चलाने का साधन न हो, तब यह रुपया कहीं अधिक उपयोगी हो जाय। बस, वह इस रुपये को बैंक में जमा कर देता है, या किसी आदमी को उस समय तक के लिये उधार दे देता है, जब वह इस के लिये अधिक उपयोगी होगा। इससे उसका रुपया सुरक्षित या संचित रहेगा, और ब्याज-रूप में जो उसकी वृद्धि हो जायगी, वह रही अलग।

विज्ञप्ति—बहुत सी वस्तुएँ ऐसी हैं कि यदि उनका विज्ञापन या इश्तहार आदि न किया जाय तो उन की उपयोगिता बहुत कम रहती है। आज कल विज्ञापन देने के अनेक नये नये और प्रभाव-युक्त उपाय निकल गये हैं, और निकाले जा रहे हैं। अनेक व्यक्ति या संस्थाएँ एक मात्र विज्ञापन देने का ही कार्य करती हैं। ये पदार्थों की दूर दूर तक प्रसिद्धि करके उनकी माँग बढ़ाती हैं। इस प्रकार पदार्थों की उपयोगिता-वृद्धि का एक उपाय विज्ञप्ति भी है। यद्यपि कुछ स्थानों में दूकानदार, एजन्ट या आढ़तिये ही यह काम करते हैं, तथापि इस से इस का महत्व कुछ कम नहीं होता, और इसे उपयोगिता-वृद्धि का एक स्वतंत्र उपाय मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती।

अ-भौतिक उत्पत्ति—अब तक उपयोगिता-वृद्धि या उत्पत्ति के जो प्रकार बताये गये हैं, उन में पदार्थों के रूप, स्थान, समय या अधिकारी में परिवर्तन होता है। ये परिवर्तन भौतिक हैं। अब उत्पत्ति के एक ऐसे प्रकार पर विचार करते हैं, जिसका भौतिक पदार्थों से कुछ सम्बन्ध नहीं होता। नाचने गाने वाले तथा तमाशा दिखाने वाले मदारी आदि दर्शकों और श्रोताओं को अपनी अपनी कला से आनन्दित करके उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। अतः आर्थिक दृष्टि से ये सब उत्पादक

हैं। इसी प्रकार जज, मुन्सिफ, पुलिसमैन, सिपाही, डाक्टर, अध्यापक तथा घरेलू नौकर आदि यद्यपि भौतिक पदार्थों की उपयोगिता प्रत्यक्ष रूप से नहीं बढ़ाते, ये अपने अपने कार्य से उत्पत्ति में सहायक होते हैं, कोई लोगों का स्वास्थ्य बढ़ाता है, कोई शिक्षा, और कोई लोगों के जान माल की रक्षा करता है। इस तरह ये उनको अधिक उत्पत्ति करने योग्य बनाते हैं। इसलिये आर्थिक दृष्टि से ये भी उत्पादक हैं।

इस से विदित हुआ कि केवल किसान, कारीगर, माल ढोने वाले, व्यापारी, दलाल, आढ़तिये, खानों या जंगलों में काम करने वाले, मछली पकड़ने वाले, समुद्र से शंख मोती आदि निकालने वाले आदि ही उत्पादक नहीं हैं, वरन् मदारी, उपदेशक, अध्यापक, सैनिक आदि वे व्यक्ति भी उत्पादक हैं, जो ऐसा कोई कार्य करते हैं, जिसका कुछ आर्थिक मूल्य हो। संक्षेप में प्रत्येक व्यक्ति जो आर्थिक दृष्टि से धनोत्पत्ति में सहायक होता है, उत्पादक है, चाहे वह प्रत्यक्ष रूप से भौतिक पदार्थों की उपयोगिता बढ़ाये, अथवा चाहे वह अन्य प्रकार से श्रम करके लोगों का स्वास्थ्य, शिक्षा आदि बढ़ा कर, उनका मनोरंजन करके, या उन के जान माल की रक्षा में भाग लेकर उन्हें अधिक कार्य करने योग्य बनाये।

इस प्रसंग में एक बात और उल्लेखनीय है। पहले कहा जा चुका है कि दुकानदार, डाक्टर, वकील, पंडे, पुरोहित आदि के कार्य से तो उपयोगिता या धन की वृद्धि होती ही है, क्योंकि उससे मनुष्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। इस के अतिरिक्त उन की प्रसिद्धि* या ख्याति भी धन है; क्योंकि उसका आर्थिक मूल्य है, उस के बदले में द्रव्य की प्राप्ति होती है।

* Good-will.

प्रसिद्धि वाला दुकानदार अपनी प्रसिद्धि दूसरे दुकानदार के हाथ बेंच सकता है। जब लोगों को यह मालूम होता है कि यह नया दुकानदार पहले सुप्रसिद्ध दुकानदार की जगह काम करता है तो वे पहले की भाँति ही इसके ग्राहक रहते हैं। यदि इस नये दुकानदार को पहले प्रसिद्ध दुकानदार की प्रसिद्धि प्राप्त न हो तो उस के ग्राहक अपेक्षाकृत कम रहें। इसी प्रकार डाक्टर, वकील, पंडे, पुरोहित आदि की प्रसिद्धि की भी उपयोगिता, अथवा आर्थिक मूल्य है। और, क्योंकि अर्थशास्त्र में उपयोगिता-वृद्धि धनोत्पत्ति का दूसरा नाम है, हमें यह विचार करना चाहिये कि प्रसिद्धि रूपी उपयोगिता की वृद्धि किस प्रकार की जाती है।

यह सर्व विदित है कि जो दुकानदार सर्व साधारण में अधिक जान पहचान रखता है, लोगों में खूब मिलता जुलता है, उनके साथ ईमानदारी का बर्ताव करता है, उसके ग्राहक भी अधिक होते हैं। हमने देखा है कि कुछ आदमी जब अच्छी बड़ी दुकान चलाना चाहते थे तो पहले कुछ दिन सार्वजनिक कार्यों में भाग लेकर उन्होंने लोगों में खूब परिचय बढ़ाया। इस परिचय का उन्होंने पीछे दुकानदारी में उपयोग किया। उन्हें आरम्भ में ही काफी ग्राहक मिल गये। वकीलों के बारे में तो सभी जानते हैं कि जितनी किसी की जान पहिचान ज्यादह होगी, उतने ही उसके पास अधिक मुवक्किल आते हैं। प्रायः आदमी अपनी जाति बिरादरी के, अपने समान धार्मिक या राजनैतिक विचारों वाले या लोक-प्रिय वकील के ही पास अपना मुकद्दमा ले जाना पसन्द करते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि वकील की जान पहचान जितनी अधिक होगी, दूसरे लोगों से वह जितना अधिक सम्पर्क में आयेगा, उतने ही उसे अधिक मुवक्किल मिलेंगे। यही बात डाक्टरों तथा पंडे पुरोहितों के विषय में कही जा

सकता है, जितना ये मेल-जोल बढ़ायेंगे, उतना ही अधिक मरीज़ या सम्मान उन्हें मिलेंगे। इस से विदित हुआ कि कुछ दशाओं में लोगों के सम्पर्क में आना भी उपयोगिता-वृद्धि अर्थात् धनोत्पत्ति का एक उपाय है।

इस प्रकार अर्थशास्त्र में उत्पत्ति के दो भेद हैं, भौतिक और अ-भौतिक। भौतिक उत्पत्ति में किसी पदार्थ का रूप स्थान आदि का परिवर्तन करके आर्थिक दृष्टि से उस की उपयोगिता बढ़ाई जाती है, और अ-भौतिक उत्पत्ति में मनुष्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति करने का ऐसा कार्य किया जाता है, जिसके बदले में द्रव्य की प्राप्ति होती है।

चौथा अध्याय

उत्पत्ति के साधन

—:*:—

भूमि, श्रम और पूँजी—कुछ समय पूर्व, अर्थशास्त्री धनोत्पत्ति के तीन साधन मानते थे:—भूमि, श्रम और पूंजी। उनका मत था कि धनोत्पादन का कोई भी कार्य किया जाय, उसके लिये इन्हीं तीन साधनों की आवश्यकता होती है। हम पहिले कह आये हैं कि उत्पत्ति दो प्रकार की होती है—भौतिक और अ-भौतिक। भौतिक उत्पत्ति स्थान, रूप आदि के परिवर्तन द्वारा, पदार्थों की उपयोगिता-वृद्धि करने से होती है। अब हम उत्पत्ति के विविध उदाहरण लेकर यह विचार करेंगे कि उसमें उपर्युक्त साधन किस प्रकार भाग लेते हैं।

स्थान-परिवर्तन द्वारा होने वाली उपयोगिता-वृद्धि में—पहले स्थान परिवर्तन द्वारा होने वाली उपयोगिता-वृद्धि की बात लीजिये। एक लकड़हारा जंगल से लकड़ी संग्रह करके

लाता है, जहाँ मनुष्यों के न रहने के कारण उसकी उपयोगिता बहुत कम है, वह उस लकड़ी को बस्ती में लाकर बेचता है, जहाँ उसकी उपयोगिता अधिक है। इसमें स्थान-परिवर्तन द्वारा उपयोगिता-वृद्धि होती है। अब देखिये: इसमें किन साधनों का उपयोग होता है। एक साधन तो जंगल ही है, जो भूमि का भाग है, इसी में तो लकड़ी पैदा होती है। पुनः लकड़ी को जंगल से बस्ती में लाने में श्रम की आवश्यकता होती है। यदि लकड़हारा श्रम न करे तो उसे लकड़ियों के दाम न मिले, अर्थात् धनोत्पत्ति न हो। इस प्रकार भूमि और श्रम की आवश्यकता हुई। फिर, सोचिये, यदि आरम्भ में लकड़हारा जहाँ तहाँ से लकड़ी चुन कर ही लाता है, तो भी अपने गट्ठे को बाँध करके लाने के वास्ते रस्सी आदि चाहिये। फिर कुछ दिन बाद ही लकड़हारे को यह अनुभव हो जायगा कि जगह जगह से लकड़ी चुन कर लाने में बहुत समय लगता है, और काट कर लाने से समय की बचत हो सकती है। इस दशा में वह कुछ दिन तक अपनी रोज़ाना आमदनी में से थोड़ा थोड़ा बचा कर कुल्हाड़ी के लिये दाम जमा करेगा। इससे वह अधिक लकड़ी इकट्ठी कर सकेगा, और सम्भव है, उन्हें बेचने के लिये बस्ती में लाने के वास्ते उसे गधा या भैंसा रखने की आवश्यकता प्रतीत हो, और वह धीरे-धीरे उसे खरीदने का भी विचार करे। लकड़हारे को रस्सी, कुल्हाड़ी गधा या भैंसा आदि से धनोत्पत्ति में सहायता मिलती है, यह ऊपर के विवेचन से विदित हो ही गया है। ये चीज़ें उसकी पूंजी है। इस प्रकार स्थान-परिवर्तन द्वारा होने वाली उपयोगिता-वृद्धि अर्थात् उत्पत्ति के लिये भूमि, श्रम और पूंजी ये तीन साधन चाहिये।

रूप परिवर्तन द्वारा होने वाली उपयोगिता-वृद्धि में; कच्चे माल की उत्पत्ति में—अब हम रूप-परिवर्तन द्वारा

होने वाली उपयोगिता-वृद्धि के साधनों का विचार करते हैं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इस रीति से कच्चा माल पैदा किया जाता है, तथा तैयार माल बनाया जाता है। कच्चा माल बहुधा खेती करने से मिलता है। संसार की प्रारम्भिक अवस्था में बहुत समय तक धनोत्पत्ति का प्रधान मार्ग यही होता है। भारतवर्ष में इस समय भी अधिकांश आदमी खेती द्वारा ही अपनी आजीविका प्राप्त करते हैं। अच्छा, इसमें उपर्युक्त साधन किस प्रकार काम आते हैं? बिना भूमि के खेती नहीं हो सकती, और श्रमी या मनुष्य बिना, खेती करेगा ही कौन? परन्तु, भूमि और मनुष्य होने से भी तो खेती नहीं हो सकेगी, उसके लिये बीज, हल, बैल तथा खाद आदि की भी आवश्यकता होगी, ये चीज़ें मनुष्य का धन हैं, परन्तु अब अधिक धन उत्पन्न करने के हेतु काम में आने के कारण उसकी पूंजी कही जाती हैं। इससे स्पष्ट है कि खेती अर्थात् कच्चे पदार्थ पैदा करने के लिये भूमि, श्रम, और पूंजी की आवश्यकता है।

तैयार माल में—अब हम तैयार माल बनाने के एक उदाहरण पर विचार करते हैं। दर्ज़ी के काम की चर्चा पहले की जा चुकी है। वह कपड़े की काट-छाँट करके कोट सीता है। इसमें उसे सीने के लिये बैठने को स्थान (दुकान या मकान) चाहिये; यह भूमि है। उस पर बैठकर वह सिलाई का कार्य करता है, इसमें उसे श्रम करना होता है। फिर उसे कपड़ा, सूई, डोरा आदि भी चाहिये, तभी तो वह कोट तैयार कर सकेगा। ये चीज़ें उसने पहले कमाये हुए धन में बचत करके जुटाई हैं, ये उसकी पूंजी हैं। इसी प्रकार लुहार, बढ़ई, जुलाहे आदि के कार्य पर विचार किया जा सकता है। निदान, तैयार माल बनाने में भी, कच्चा माल बनाने की तरह, भूमि श्रम और पूंजी इन तीन साधनों की आवश्यकता होती है।

अ-भौतिक उत्पत्ति में भी तीन ही साधन—अब तक हमने जिन उदाहरणों पर विचार किया, वे सब भौतिक उत्पत्ति के हैं। अब तनिक अ-भौतिक उत्पत्ति के सम्बन्ध में विचार करें; अर्थात् यह देखें कि जिन कार्यों से किसी पदार्थ की उपयोगिता-वृद्धि न होकर भी धनोत्पत्ति होती है, उनमें उपर्युक्त साधनों का उपयोग किस प्रकार होता है। अध्यापक, डाक्टर, जज, मुन्सिफ, सिपाही आदि अ-भौतिक उत्पत्ति करते हैं, यह पहले लिखा जा चुका है। इनमें से अध्यापक के कार्य पर विचार करें। उसे अपने कार्य के लिये स्थान तो चाहिये ही, यह स्थान चाहे पाठशाला की इमारत के रूप में हो, या बिल्कुल खुला हो। इस प्रकार भूमि आवश्यक हुई। फिर अध्यापक को विद्यार्थी पढ़ाने के कार्य में श्रम करना होता है, यह स्पष्ट ही है। अध्यापक को पहले शिक्षा प्राप्त करने में धन खर्च करना पड़ा है, तभी तो वह इस योग्य हुआ है, कि दूसरों को पढ़ा सकता है। उस खर्च किये हुए धन से ही वह अब अधिक धन पैदा करने में समर्थ है, ऐसे धन को पूंजी कहते हैं। इस प्रकार अध्यापन कार्य द्वारा धनोत्पत्ति करने के लिये भी भूमि, श्रम, और पूंजी ये तीन साधन चाहिये। इसी तरह डाक्टर, जज, मुन्सिफ सिपाही, गवैये, आदि के कार्य पर विचार किया जा सकता है। इन सब में भी इन तीन साधनों की आवश्यकता होती है। निदान, अ-भौतिक उत्पत्ति के भी भूमि, श्रम और पूंजी ये तीन साधन होते हैं।

साधनों के विषय में नवीन विचार; प्रबन्ध—जैसा पहले कहा गया है, प्राचीन अर्थशास्त्री धनोत्पत्ति के ये तीन ही साधन मानते थे। पर, आज कल मनुष्यों के रहन-सहन की अन्य बातों की भांति धनोत्पादन की विधि में भी बहुत अन्तर हो गया है। अब धनोत्पादन का कार्य प्रायः अकेला-दुकेला

आदमी नहीं करता, सैकड़ों, हजारों आदमी एक ही कल कारखाने में इकट्ठे मिल कर काम करते हुए नजर आते हैं। इन सब को अपने अपने निर्धारित कार्य में लगाने के वास्ते एक पृथक् व्यक्ति की आवश्यकता होती है, जो इस बात का प्रबन्ध* करे कि कल-कारखानों में कौन सा काम कब और किस प्रकार किया जायगा, तथा कौन कौन आदमी कहाँ कहाँ कार्य करेंगे, भूमि कौनसी अच्छी है, और आवश्यक पूंजी कहाँ कहाँ से कितनी कितनी मात्रा में प्राप्त की जाय। उसे यह भी विचार करना होता है कि कारखाने में उत्पन्न माल का विज्ञापन देकर कैसे उसकी माँग बढ़ायी जाय, फिर कैसे उसे भिन्न भिन्न व्यापार-मंडियों में रेल या मोटर आदि के द्वारा भेजा जाय, तथा किस तरह उसकी बिक्री करायी जाय। उपर्युक्त सब बातों का प्रबन्ध करने वाला व्यक्ति प्रबन्धक कहलाता है। यह व्यक्ति श्रम तो करता है। परन्तु इसका श्रम अन्य श्रमजीवियों से भिन्न प्रकार का होता है। अन्य श्रमजीवी तो अपना निर्धारित कार्य मात्र करने के जिम्मेवार होते हैं, परन्तु प्रबन्धक उन सब का निरीक्षण और नियंत्रण करता है, तथा धनोत्पत्ति के अन्य साधनों अर्थात् भूमि, श्रम और पूंजी आदि का भी प्रबन्ध करता है। इस कार्य का आज कल बड़ा महत्व है, यहाँ तक कि इसे धनोत्पत्ति का एक स्वतंत्र और पृथक् साधन माना जाता है। इसके बिना कल-कारखानों में धनोत्पत्ति का कार्य चल ही नहीं सकता।

साहस—इसके अतिरिक्त आज कल एक और व्यक्ति या व्यक्ति-समूह की आवश्यकता होती है, जो धनोत्पादक कार्य के हानि-लाभ का जिम्मेवार हो। श्रमजीवी तो दैनिक, साप्ताहिक या

* Management.

मासिक वेतन ले लेंगे, प्रबन्धक भी प्रतिमास अपना वेतन लेगा। इन्हें इस बात से कुछ प्रयोजन नहीं कि कारखाने में लाभ रहता है या नहीं, और रहता है तो कितना; ये तो अपना कार्य यथा-सम्भव अच्छी तरह सम्पादन करने भर के लिये उत्तरदायी हैं। इस प्रकार भूमि वाला उसका किराया, भाड़ा या लगान, तथा पूंजी वाला पूंजी का व्याज अवश्य लेगा। कारखाने के चलने या डूबने की जोखम उस व्यक्ति या कम्पनी आदि पर है, जो उसको चलाने का साहस करती है, तथा जोखम उठाती है। बड़े पैमाने पर होने वाले आधुनिक धनोत्पादन में इस कार्य का भी विशेष महत्व है। यह धनोत्पत्ति का एक पृथक् साधन माना जाता है। इसे साहस* कहते हैं।

इस प्रकार धनोत्पत्ति के निम्न लिखित साधन हुए:—

(१) भूमि
(२) श्रम
(३) पूंजी
(४) प्रबन्ध और
(५) साहस।

उपर्युक्त साधनों में से अन्तिम दो अर्थात् प्रबन्ध और साहस को मिला कर संयुक्त रूप में व्यवस्था † कहते हैं। कुछ व्यक्ति इसके लिये 'संगठन' शब्द का प्रयोग करते हैं।

बिक्री—विदित हो कि हमने प्रबन्धक के कार्यों के अन्तर्गत बिक्री का भी समावेश किया है। कुछ बिक्री स्वयं उस के निरीक्षण तथा नियंत्रण में होती है, और कुछ फुटकर विक्रेताओं द्वारा अलग होती है। बिक्री, चाहे प्रबन्धक स्वयं ही इस कार्य को क्यों

* Eterprise.

† Organisation.

न करे, उत्पत्ति सम्बन्धी एक स्वतंत्र कार्य है। किसी वस्तु की उत्पत्ति का अन्तिम लक्ष्य उसे उपभोक्ता के पास तक पहुँचा देना है। पहले कहा जा चुका है किसी वस्तु को एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक, उत्पत्ति स्थान से उपभोक्ता तक, पहुँचाने से भी उपयोगिता-वृद्धि होती है, उसका भी अर्थ यही है कि यह क्रिया उत्पत्ति सम्बन्धी ही है।

भूमि और श्रम की विशेषता—इन साधनों के विषय में विशेष बातें तो आगे स्वतंत्र अध्याय में कही जायँगी। यहाँ भूमि और श्रम के सम्बन्ध में कुछ वक्तव्य है। साधारण बोल-चाल में भूमि का जो अर्थ लिया जाता है, वह अर्थशास्त्र में लिये जाने वाले अर्थ की दृष्टि से बहुत भिन्न है। साधारणतया भूमि का आशय पृथ्वी-तल से लिया जाता है, परन्तु अर्थ-शास्त्र में, इसके अन्तर्गत वे सब उपयोगी पदार्थ तथा शक्तियाँ समझी जाती हैं, जो प्रकृति से प्राप्त होती हैं और धनोत्पत्ति में उपयोग की जाती है। इस प्रकार 'भूमि' में निम्नलिखित वस्तुएँ सम्मिलित हैं:—

१—पृथ्वी-तल, तथा पृथ्वी से प्राप्त होने वाले पदार्थ, यथा लोहा, कोयला, सोना, चाँदी, मिट्टी का तेल, कुओं का जल और भूमि की उत्पादक शक्तियाँ, तथा जंगल में मिलने वाले पदार्थ, विविध औषधियाँ आदि।

२—भूमि का जल, नदी, तालाब, झील, समुद्र और इनमें मिलने वाली मछलियाँ, शंख, मोती आदि।

३—वायु, गर्मी सर्दी, प्रकाश, वर्षा आदि।

स्मरण रहे कि अर्थशास्त्र में प्रकृति का वही भाग 'भूमि' के अन्तर्गत माना जाता है, जो धन की उत्पत्ति करने में मनुष्य के उपयोग में आता हो, प्रकृति का शेष भाग ' भूमि ' नहीं माना

जाता। कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि उत्पत्ति के साधनों में 'भूमि' की जगह प्रकृति या प्राकृतिक परिस्थिति* की गणना की जानी चाहिये।

पहले कहा जा चुका है कि कोई उत्पत्ति अर्थात् उपयोगिता-वृद्धि श्रम के बिना नहीं होती, उसके लिये श्रम का होना अनिवार्य है। श्रम चाहे शारीरिक हो, चाहे मानसिक, वह ऐसा होना चाहिये जिसका आर्थिक दृष्टि से कुछ मूल्य हो। बहुत सा श्रम ऐसा होता है जिसे आदमी अपने मनोरंजन, आनन्द या आध्यात्मिक शान्ति आदि के लिये करते हैं। यह श्रम उस व्यक्ति के लिये, तथा कुछ दशाओं में समाज के लिए भी बहुत उपयोगी हो सकता है, परन्तु ऐसा होते हुए भी सम्भव है, उसका आर्थिक दृष्टि से कुछ मूल्य न हो। उदाहरणार्थ भक्त कवियों की अनेक कृतियाँ हैं, इनकी रचना उन्होंने 'स्वान्तः सुखाय' की। इनसे उन्हें लाभ हुआ, और पीछे ये समाज के उपयोग में आने लगीं, पर उन्हें इनके बदले में कुछ धन नहीं मिला, और न उन्होंने इसके लिये धन की कामना ही की। अतः उनका श्रम अर्थशास्त्र में उपयोगिता-वृद्धि करने वाला नहीं माना जाता।

अर्थशास्त्र में हमें उसी श्रम से प्रयोजन रहता है जो धनोत्पत्ति की दृष्टि से किया जाता है। धनोत्पत्ति दो प्रकार की होती है, भौतिक और अ-भौतिक; इस सम्बन्ध में पहले लिखा जा चुका है।

प्रकृति और पुरुष की प्रधानता—अस्तु, आधुनिक दृष्टि से धनोत्पादन के निम्नलिखित पाँच साधन हुए:—भूमि या प्रकृति, श्रम, पूँजी, प्रबन्ध, और साहस। यह आवश्यक नहीं

---

* Nature or Natural environment.

है कि ये पाँचों साधन प्रत्येक प्रकार के धनोत्पादन में पृथक् पृथक् रूप से काम आते हुए दिखाई दें। पहले कहा जा चुका है, कि प्राचीन काल में जब कि धनोत्पादन कार्य छोटे पैमाने पर होता था तो व्यवस्था और साहस का विशेष प्रश्न ही नहीं उठता था। अब भी अनेक स्थानों में बहुत से आदमी धनोत्पत्ति के साधारण कार्य करते हैं तो उनके भूमि, श्रम और पूँजी ये तीन ही साधन होते हैं। और, कितनी ही दशाओं में तो इनमें से भी पूँजी को कुछ विशेष आवश्यकता नहीं होती। यद्यपि पूँजी से धनोत्पादन में सहायता मिलती है, तथापि कुछ उदाहरण ऐसे भी हैं कि पूँजी के बिना भी कुछ धनोत्पत्ति हो सकती है, हाँ, वह बहुत अल्प परिमाण में होगी। लकड़हारा जंगल से कुछ लकड़ी चुन कर अपने हाथों में या सिर पर रख कर ला सकता है, बिना पूँजी अर्थात् रस्सी तथा गधे या भैंसे आदि के भी वह कुछ धन पैदा कर सकता है। एक अच्छे कंठ वाला व्यक्ति बिना कुछ शिक्षा पाये और बिना किसी बाजे या सितार के भी अपने स्वर से श्रोताओं को मुग्ध करके अपनी आजीविका के लिये कुछ द्रव्य प्राप्त कर सकता है। इस दशा में उसे खड़े होने या बैठने के लिये भूमि चाहिये, फिर वह केवल अपने श्रम से, अर्थात् बिना पूँजी के ही धनोत्पत्ति का कार्य कर सकता है। इसी प्रकार और भी उदाहरण देकर बताया जा सकता है कि उत्पत्ति के साधनों में भूमि और श्रम की प्रधानता होती है। परन्तु जैसा कि ऊपर कहा गया है, यह बात सृष्टि की प्रारम्भिक अवस्था में, अथवा प्राचीन काल के सम्बन्ध में विशेष लागू होती है, जब कि उत्पत्ति छोटे पैमाने पर होती थी। आजकल तो प्रायः बड़े बड़े कल कारखानों में, बहुत बड़े पैमाने पर धनोत्पादन होता है, इसमें पूँजी और व्यवस्था का महत्व बहुत अधिक बढ़ गया है, यहाँ तक कि इनके सामने

भूमि और श्रम अपेक्षाकृत गौण हो गये हैं, अथवा वे इनके द्वारा ही प्राप्त किये जा सकते हैं। इस सम्बन्ध में विशेष आगे लिखा जायगा, जब हम पूँजी और व्यवस्था का स्वतंत्र रूप से विचार करेंगे।

तनिक सोचने पर विदित हो जायगा कि उत्पत्ति के साधनों में भूमि तो प्रकृति-दत्त है; अन्य चारों साधन मनुष्य सम्बन्धी हैं। श्रम मनुष्य ही करता है। पूँजी उसी के श्रम से उपार्जित ऐसा धन है जिसे मनुष्य अधिक धनोत्पत्ति के लिये संचित करके रखता है। प्रबन्ध, एक विशेष प्रकार का श्रम है, जो धनोत्पत्ति के अन्य साधनों को जुटाने के लिये किया जाता है। और, साहस भी मनुष्य ही करता है, इसमें वह धनोत्पत्ति के कार्य के हानि-लाभ की जोखम उठाता है। इस प्रकार धनोत्पत्ति के साधनों में प्रकृति और मनुष्य ही प्रधान हैं, शेष मनुष्य के अन्तर्गत आ जाते हैं। हिन्दू शास्त्रों में प्रकृति और पुरुष से ही सृष्टि की उत्पत्ति बतायी गई है, उसका उपर्युक्त कथन से विलक्षण मेल होता है। अर्थशास्त्र भी धनोत्पत्ति सम्बन्धी सृष्टि की विविध क्रियाओं का मूल कारण प्रकृति और पुरुष ही बताता है।

उत्पत्ति के साधक—पहले बताया जा चुका है कि उत्पत्ति के साधन आधुनिक दृष्टि से सब मिला कर पाँच हैं। जिन व्यक्तियों से इन साधनों की पूर्ति या प्राप्ति होती है, वे उत्पत्ति के साधक कहे जाते हैं। इस प्रकार उत्पत्ति के साधक भी पाँच ही होते हैं, यथा,

(१) भूमि का स्वामी अर्थात् ज़मींदार
(२) श्रम करने वाला, श्रमजीवी
(३) पूँजी वाला, पूँजीपति

(४) प्रबन्ध करने वाला, प्रबन्धक, और

(५) साहस करने वाला, साहसी।

यह आवश्यक नहीं है कि धनोत्पत्ति के प्रत्येक कार्य में उपर्युक्त पाँचों साधक स्पष्ट रूप से भाग लेते हुए दिखायी पड़ें। बहुधा ऐसा होता है कि दो या तीन साधकों पर अधिकार या नियंत्रण रखने वाला एक ही व्यक्ति होता है, अथवा यह भी सम्भव है कि एक ही साधक द्वारा धनोत्पादन का कार्य हो जाय।

खेती के सुपरिचित उदाहरण पर विचार करो। कल्पना करो, एक किसान है, उसके पास थोड़ी सी अपनी भूमि है, उस पर वह स्वयं ही श्रम करता है, अर्थात् उसे जोतने बोने के लिये वह कोई दूसरा श्रमजीवी नहीं रखता। उसके पास बीज, हल, बैल आदि भी अपने ही हैं, उसे किसी से पूँजी लेने की जरूरत नहीं। और, क्योंकि यह कार्य छोटे पैमाने पर है, और भूमि श्रम और पूँजी सब उसी की हैं, इसलिये इस में प्रबन्ध की विशेष आवश्यकता नहीं, अथवा यों कह लीजिये कि उक्त साधनों को जुटाने का प्रबन्ध स्वयं उसके ही द्वारा किये जाने के कारण, वह स्वयं ही प्रबन्धक भी है। इसी प्रकार अपने उत्पादन कार्य में होने वाले हानि लाभ की जोखम वह स्वयं ही उठाता है, इसलिये वह साहसी भी है। निदान पाँचों साधकों का कार्य एक ही व्यक्ति सम्पादन कर सकता है।

यह कच्चे माल की पैदावार के उदाहरण का विचार हुआ। इसी तरह तैयार माल बनाने की क्रिया पर विचार किया जा सकता है। कल्पना करो कि एक बढ़ई है, उसकी अपनी दुकान है, या वह मकान पर काम करता है। उसके पास अपने काम लायक लकड़ी और औजार आदि हैं। इनसे वह मेज बनाता है। इस कार्य के लिये न कोई प्रबन्धक है, और न कोई साहसी।

सब का काम वह स्वयं ही सम्पादन कर लेता है। इस तरह के अन्य उदाहरणों से भी यह बात सिद्ध की जा सकती है। इससे स्पष्ट है कि तैयार माल बनाने में भी पूर्वोक्त पाँच साधकों के पृथक् पृथक् रूप से कार्य करने की आवश्यकता नहीं। तथापि सम्यक् विवेचन के लिये यह आवश्यक है कि हम पूर्वोक्त पाँचों साधकों को, तथा धनोत्पादन में उनके स्थान को भली भाँति जानलें।

पाँचवाँ अध्याय

भूमि

—:*:—

भूमि की परिभाषा—पहले कहा जा चुका है कि धनोत्पत्ति का एक साधन भूमि है। इस अध्याय में भूमि के विषय में विशेष विचार करना है। पिछले अध्याय में हम यह बता चुके हैं कि अर्थशास्त्र में 'भूमि' से अभिप्राय उसी वस्तु से नहीं होता जिससे साधारण बोल-चाल में होता है। अर्थशास्त्र में भूमि का अर्थ बहुत व्यापक होता है। इसके अन्तर्गत वे सब वस्तुएँ आ जाती हैं, जो मनुष्य ने न बनायी हों, और जो अधिक धनोत्पत्ति करने के काम में आती हों। उदाहरणार्थ, जंगल, खान, नदी, झील, तालाब और समुद्र आदि एवं इन से मिलने वाले विविध पदार्थ एवं मछलियाँ आदि भी भूमि के अन्तर्गत मानी जाती हैं, इसी प्रकार सर्दी, गर्मी, प्रकाश, धूप और वर्षा आदि भी, अर्थशास्त्र में भूमि के ही अन्तर्गत हैं। परन्तु ये वस्तुएँ उसी दशा में 'भूमि' मानी जायँगी, जब कि मनुष्य ने इनके लिये श्रम न किया हो। उपर्युक्त कथन के अनुसार

जंगल में पैदा होने वाली लकड़ी, पशु, पत्ती और औषधियाँ भूमि के अन्तर्गत हैं। परन्तु यदि मनुष्य ने श्रम करके लकड़ी इकट्ठी की है, पशु पत्तियों को पकड़ा है या पाला है, तथा औषधियों को संग्रह करके रखा है, तो ये वस्तुएँ भूमि के अन्तर्गत नहीं मानी जायँगी।

इस विषय में दो बातें स्मरण रखने की हैं। प्रथम तो यह कि बहुत सी पृथ्वी ऐसी होती है जो उपयोग में नहीं आती। इसे अर्थशास्त्र में भूमि नहीं कहा जायगा। इसे अर्थशास्त्र की दृष्टि से भूमि उसी समय कहा जायगा, जब यह काम में आने योग्य बना ली जाय, और इस का उपयोग होने लगे।

दूसरी बात यह है कि भूमि को प्राकृतिक या प्रकृति-दत्त पदार्थ कहा गया है, जिसके लिये मनुष्य ने कुछ श्रम न किया हो। परन्तु व्यवहार में ऐसी भूमि विशेष नहीं मिलती। भूमि के प्रत्येक टुकड़े पर किसी न किसी व्यक्ति का अधिकार है, और उसने उस पर श्रम करके, अथवा उस में कुछ पूँजी का प्रयोग करके उसे उपयोगी बनाया है। भूमि की प्राकृतिक उत्पादकता फसलों के बोने से नष्ट हो जाती है। अतः पुराने भू-भागों की उत्पादकता अधिकतर मनुष्य के प्रयत्नों का फल है। यह प्रयत्न कृषि-भूमि में अधिक है, और जंगलों में बहुत कम।

जैसा कि पहले कहा गया है, अर्थशास्त्र में भूमि के अन्तर्गत जल वायु, भौगोलिक स्थिति, जल शक्ति, वायु शक्ति, सूर्य का प्रकाश, वर्षा, नदी और जंगल आदि भी सम्मिलित हैं। इनके विषय में कुछ विशेष बातें नीचे दी जाती हैं।

जल वायु—पहले जल वायु की बात लें। इस का धनोत्पत्ति पर बड़ा असर पड़ता है। यद्यपि कहीं कहीं अवस्था भेद से अन्तर भी होता है, प्रायः गर्म देशों में थोड़ा सा परिश्रम करने

से भी धनोत्पत्ति अधिक हो जाती है, और वहाँ लोगों की आवश्यकताएँ कम रहती हैं, वस्त्रों की ज़रूरत कम रहती है, भोजन भी अपेक्षाकृत कम ही चाहिये, बड़े मकान की भी विशेष आवश्यकता नहीं होती। परन्तु इन भू-भागों में बहुधा आदमी जल्दी थक जाते हैं, और साधारणतया आरामतलब, रोगी, तथा अल्पायु होते हैं। ये स्थान प्रायः कृषि-प्रधान होते हैं, इनमें ग्राम या देहात अधिक होते हैं। इसके विपरीत, शीत-प्रधान देशों में लोगों की आवश्यकताएँ बहुत होती हैं। उन्हें भूख खूब लगती है, इस से उन्हें भोजन काफी परिमाण में चाहिये, सर्दी निवारण करने के लिये उन्हें कपड़े की, तथा मकान की ज़रूरत अधिक होती है। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये इन स्थानों के आदमी प्रायः साहसी, और परिश्रमी जीवन बिताते हैं। इस लिये, तथा सर्दी के प्रभाव के कारण वे प्रायः निरोग होते हैं। यहाँ खेती अधिक न हो सकने के कारण शिल्प व्यवसाय में विशेष उन्नति होती है, और इस लिये इन में ग्रामों की अपेक्षा नगर अधिक होते हैं। और, नगरों में शिक्षा, कला-कौशल, आमोदप्रद और यातायात के साधन आदि अधिक होते हैं। हाँ, बहुत अधिक शीत देशों में भी श्रमियों के रहने या श्रम करने की अनुकूलता नहीं होती।

कुछ लेखकों का मत है कि सभ्यता का विकास शीत-प्रधान देशों में विशेष होता है। परन्तु दूसरे लेखक इस बात का युक्ति-पूर्वक खंडन करते हैं। जैसा कि ऊपर कहा गया है, जल वायु अर्थात् गर्मी सर्दी आदि का प्रभाव मनुष्यों के रहन सहन पर पड़ता अवश्य है। परन्तु सभ्यता किसे कहते हैं, और क्या कृषि-कार्य में लगे हुए ग्रामवासी, शिल्प व्यवसाय करने वाले नगर निवासियों से अवश्यमेव कम सभ्य होते हैं, किस का जीवन अधिक सरल, निष्कपट, परोपकारी और दयालु होता है और

किसका कूटनैतिक, ईर्ष्यालू, प्रतिद्वन्दिता-युक्त और हिंसक, इस विषय में बहुत-कुछ तर्क वितर्क की गुञ्जायश है, जिसे हम यहाँ उपस्थित करना नहीं चाहते। हमें तो यहाँ केवल यही बताना अभीष्ट है कि जल वायु का धनोत्पत्ति पर क्या प्रभाव है।

मनुष्य अपने ज्ञान बल से जल वायु को कुछ अंश में बदल सकता है। उदाहरणवत् रेगिस्तान में बड़ी बड़ी नहरें निकालने से, तथा भूमि में पेड़ों को बड़े पैमाने पर लगाने, या जंगलों को काट कर साफ़ करने से जल वायु में बहुत अन्तर हो जाता है। विज्ञान की सहायता से मनुष्य हवा की उष्णता को भी कुछ अंश तक बदलने में समर्थ होता है। यह होते हुए भी प्राकृतिक जल वायु के प्रभाव का यथेष्ट महत्व है।

भौगोलिक स्थिति का प्रभाव—कुछ देश अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण, सहज ही संसार के भिन्न भिन्न देशों से व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं, और दूसरों को, उससे विपरीत स्थिति के कारण अनेक बाधाओं का सामना करना पड़ता है। उदाहरणार्थ इंगलैंड की आर्थिक उन्नति का रहस्य बहुत-कुछ उसकी विशेष परिस्थिति के कारण भी है। वह एटलांटिक महासागर का ऐसा द्वीप है, जिसके आस पास विविध देश हैं; उसे इस बात के लिये सतर्क रहना पड़ता है कि कोई उस की आत्म-रक्षा में बाधा न डाले, और, उसका जीवन-निर्वाह भली भाँति होता रहे। इस लिये उसने व्यापार (तथा साम्राज्य) चहुँओर फैला रखा है।

समुद्र के तटवर्ती देशों को तथा द्वीपों को मछलियों, शंख, मोती आदि की प्राप्ति सुगमतया से हो जाती है। कहीं कहीं बड़े अच्छे बन्दरगाह हैं, जिन से व्यापार-वृद्धि में बहुत सहायता मिलती है। इसका श्रेय भौगोलिक स्थिति को ही है।

जल शक्ति—जल की शक्ति से पहिले बहुत काम लिया जाता था। कितने ही स्थानों में पनचक्की आदि चलती थी। अब विज्ञान की उन्नति से भाप, बिजली या तेल के एंजिनों का उपयोग अधिक होने लगा। इसमें यह सुभीता रहता है कि नगर या कस्बे में चाहे जहाँ इसका उपयोग किया जा सकता है। जल-शक्ति का उपयोग वहीं हो सकता था, जहाँ नदी या नहर आदि हो। बहुत से नगरों में नदी या नहर नहीं है, अगर है तो काफ़ी दूर है, जहाँ जाने आने में लोगों का बहुत समय और शक्ति लग जाती है। तथापि, जहाँ कहीं इसका उपयोग हो सके, जल-शक्ति की उपयोगिता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। फिर, अब जल-प्रवाह और प्रपातों द्वारा बिजली पैदा करके, उसका उपयोग अधिकाधिक होता जा रहा है। पृथ्वी पर जल-शक्ति का अमित भंडार है, नदियों और समुद्र के जल से इस दिशा में खूब लाभ उठाया जा सकता है, इसमें तेल या कोयले के खर्च का भी प्रश्न नहीं उठता, जिनका परिमाण बहुत परिमित है।

वायु-शक्ति—जल-शक्ति की भाँति वायु-शक्ति भी बहुत उत्पादक है। इसका उपयोग करने के लिये बहुत ऊँचे खम्भों पर पंखे लगाये जाते हैं, जो हवा की साधारण गति से भी चलने लगते हैं। हवा की दिशा के अनुसार इन पंखों का रुख बदला जा सकता है। इन पंखों के चलने से दूसरे यंत्र चलने लगते हैं। हवा के ज़ोर से किश्तियाँ या जहाज़ भी चलाये जाते हैं। पर इसमें बाधा यह ही है कि हर दम हवा का आसरा ताकना पड़ता है, वह जब चाहे, नहीं चलायी जा सकती, और जब हवा नहीं चलेगी तो उसके बल पर चलने वाले यंत्र, नाव या जहाज़ बन्द रहेंगे, चाहे उनके चलाने की कितनी ही आवश्यकता

उपस्थित क्यों न हो। आधुनिक विज्ञान ने मनुष्य की यह कठिनाई दूर कर दी है। अब साधन-सम्पन्न व्यक्ति हवा का आसरा तकते नहीं बैठे रहते। वे भाफ का उपयोग कर जब चाहें अपनी इच्छानुसार काम कर सकते हैं। तथापि वायु शक्ति का, बहुत कम और परिमित ही सही, उपयोग अवश्य है, और इससे थोड़ा बहुत काम लिया ही जाता है।

सूर्य की धूप—जल-शक्ति और वायु-शक्ति की बात ऊपर कही गयी है; और यह भी बताया गया है कि विज्ञान की उन्नति होने से अब भाफ, तेल या बिजली से चलने वाले यंत्रों का उपयोग अधिकाधिक हो रहा है तथापि वैज्ञानिकों के सामने यह समस्या है कि तेल और कोयले का खर्च होने से इनका भंडार क्रमशः कम होता जाता है। शक्ति उत्पादन करने का ऐसा स्रोत मिलना चाहिये, जिसके सहसा समाप्त हो जाने की आशंका न हो। इसी हेतु जल-प्रवाह और जल-प्रपात से बिजली पैदा करके उसका उपयोग किया जा रहा है। इसके साथ ही ऐसे भी प्रयोग किये गये हैं जिनसे सूर्य की अनन्त शक्ति का उपयोग हो। यह अनुमान लगाया गया है कि भिन्न भिन्न भागों के अमुक क्षेत्रफल की भूमि पर पड़ने वाली किरणों को केन्द्रीभूत करने से इतने घोड़ों की शक्ति पैदा होती है। प्रश्न यह है कि उक्त किरणों को किस प्रकार केन्द्रीभूत किया जाय, तथा इस क्रिया में किस प्रकार व्यय इतना कम हो कि व्यावहारिक दृष्टि से उपयोग करना लाभकारी रहे। इन प्रयोगों की सफलता पर विशेषतया भू-मध्य रेखा के पास वाले देशों अर्थात् उष्ण कटिबन्ध के भागों की खूब बन आवेगी। अवश्य ही, अभी इसमें यह बाधा दिखायी पड़ती है, कि जब सूर्य न निकले तब क्या करना होगा। आशा है, भविष्य में इस विषय के भी आविष्कार हो जायँगे कि धूप से पैदा होने वाली शक्ति किस प्रकार संचित करके रखी जाय,

जिससे आवश्यकता होने पर रात्रि में, या आकाश मेघाच्छन्न होने की दशा में भी उसका उपयोग हो सके।

सूर्य की किरणों का एक और प्रकार से भी उपयोग किया जाता है। भिन्न भिन्न रंगों की बोतलों में पानी भर कर धूप में रखा जाता है। इससे उस पानी में विविध बीमारियों का इलाज करने का गुण उत्पन्न हो जाता है। प्राकृतिक चिकित्सा करने वाले डाक्टर इस जल से औषधियों का काम लेते हैं।

यों तो सूर्य के प्रकाश में पौदों को उगाने, जनता का स्वास्थ्य बढ़ाने, तथा अनेक रोगों के कृमियों का नाश करने आदि के अनेक गुण विद्यमान हैं, पर इन गुणों का उपयोग पृथ्वी-तल के साथ ही हो जाता है। इसलिये उनका पृथक् विचार करने की आवश्यकता नहीं है।

वर्षा का प्रभाव—कृषि-कार्य वर्षा पर बहुत निर्भर रहता है। जहाँ उचित मात्रा में तथा समय पर वर्षा हो जाती है, वहाँ पैदावार खूब होती है। इसके फल-स्वरूप वहाँ आबादी भी बहुत घनी होती है। इसके विपरीत, जहाँ वर्षा कम, या आवश्यकता से अधिक हो जाती है, अथवा बे-समय हो जाती है तो फसल मारी जाती है। ऐसे स्थानों में आबादी कम रहती है।

ज्यों ज्यों विज्ञान की वृद्धि होती जाती है, लोगों को वर्षा का आसरा कम तकना पड़ता है। वर्षा का जो जल नदियों द्वारा समुद्र में जाता है उसे संचित करने के लिये झील और तालाब बनाने का प्रयत्न थोड़े बहुत परिमाण में चिरकाल से हो रहा है, इस जल का अनावृष्टि के समय उपयोग किया जाता है। नदियों से नहरें निकाल कर उन स्थानों की भूमि में भी सिंचाई का प्रबन्ध किया जा सकता है, जहाँ वर्षा न हो, अथवा बहुत कम हो। अब तो वैज्ञानिक इस दिशा में भी अग्रसर हो रहे हैं कि

आवश्यकता होने पर यज्ञों द्वारा अथवा अन्य कृत्रिम रूप से वर्षा की जाय, और, यदि आवश्यकता न होने पर वर्षा होने लगे तो बादलों को उड़ा दिया जाय। इन बातों का अभी काफी प्रचार नहीं हुआ है। इसलिये प्राकृतिक रूप से होने वाली वर्षा का प्रभाव बहुत कुछ बना हुआ है।

नदियों का प्रभाव—प्राचीन काल में नदियों का आर्थिक प्रभाव बहुत अधिक था। अनेक नगर उस समय नदियों के किनारे किनारे ही बसाये गये थे, कारण, कि लोगों को उनसे खेती की सिंचाई में सहायता मिलने के अतिरिक्त, व्यापार के लिये माल लाने ले जाने की भी बड़ी सुविधा रहती थी। यह दूसरा कार्य अब बहुत-कुछ रेल और मोटर आदि द्वारा होने लगा है, फिर भी नदियों से कृषि कार्य में तो बहुमूल्य सहायता पूर्ववत ही मिलती है। उनसे नहरें काट कर दूर दूर तक की भूमि की सिंचाई का प्रबन्ध किया जाता है, जिससे उसकी उत्पादकता बहुत बढ़ जाती है। नहरों से माल लाने ले जाने का काम भी होता है। नदियों से डेल्टे और टापू बनते हैं, उनकी भूमि बहुत उपजाऊ होती है।

कभी कभी नदियों से नुकसान भी हो जाता है। उनकी बाढ़ से खेतों की उपज, तथा पशु आदि बह जाते हैं, यहाँ तक कि गाँवों और नगरों के मकान गिर जाते हैं और जन धन की बड़ी क्षति हो जाती है। पर बाढ़ से यह लाभ भी होता है कि कहीं कहीं भूमि की ऊसर और रेह वाली मिट्टी बह जाती है, और उसके ऊपर उपजाऊ मिट्टी की परत जम जाती है, जिससे बंजर भूमि भी उत्पादक बन जाती है।

जंगलों का प्रभाव—जंगलों का भी उत्पत्ति से बहुत सम्बन्ध है। ये वर्षा के जल को बह कर चले जाने से रोकते हैं,

और साथ ही नदियों में बाढ़ आने को रोकते हैं, ये वर्षा के जल से पृथ्वी के नीचे की मिट्टी को तर रखते पेड़ों के पत्ते हवा को तरी देकर उसकी उष्णता को कम करते हैं। चरागाहों में पशुओं के चरने के लिये घास मिलता है। जंगलों से इमारतों, के लिये, तथा मेज कुर्सी आदि सामान और ईंधन के लिये, लकड़ी मिलती है, तथा व्यवसाय सम्बन्धी भी बहुत से पदार्थों की प्राप्ति होती है, यथा गोन्द, रबर, लाख, चमड़ा रंगने के लिये पेड़ों की छाल, विविध फल, मेवा, मसाले, और काग़ज़ बनाने की घास आदि। यह भी ज्ञात हुआ है कि जिन स्थानों में जंगल होते हैं, उनमें वर्षा अपेक्षाकृत अधिक होती है।

भूमि के गुण; आन्तरिक गुण और बाह्य परिस्थिति—भूमि की उपयोगिता दो प्रकार के गुणों पर निर्भर होती है, (१) उसके आन्तरिक गुण, तथा (२) बाह्य परिस्थिति। आन्तरिक गुणों में वे बातें सम्मिलित हैं, जिससे वह उपजाऊ होती है। कहीं की मिट्टी कम उपजाऊ होती है, कहीं की अधिक। कहीं कहीं भूमि पथरीली या रेतीली, अथवा बहुत ढालू होने से उसमें पैदावार कम होती है। कृषि की दृष्टि से विचार करते समय, भूमि की इन बातों को बड़ा महत्व दिया जाता है।

किसान चाहता है कि भूमि अधिक से अधिक उत्पादक हो, उसकी मिट्टी इस प्रकार की हो कि पौधों की मुलायम पतली जड़ें आसानी से नीचे जा सकें; और साथ ही मिट्टी में यह भी गुण हो कि जड़ों को अच्छी तरह स्थिर रख सके। रेतीली भूमि जल को बहुत नीचे चले जाने देती है, और शुष्क बनी रहती है, उसमें जल के अतिरिक्त अन्य आवश्यक तत्व भी ऊपर नहीं रहने पाते, इसलिये वह उत्पादक नहीं होती। भूमि पथरीली या कंकरीली भी नहीं होनी चाहिये, कारण, कि सख्त मिट्टी में पौधों के लिये जल तथा अन्य आवश्यक तत्व यथेष्ट परिमाण में प्रवेश

नहीं करने पाते, अतः यह भी बहुत कम उत्पादक होती है। मनुष्य अपने अनुभव और ज्ञान से ऐसी भूमि की उपयोगिता बढ़ाने का प्रयत्न करता है, इसका विचार अन्यत्र प्रसंगानुसार किया गया है।

भूमि की उत्पादकता के अतिरिक्त, किसान यह भी चाहता है कि भूमि 'मौके की' हो, अर्थात् बाह्य परिस्थिति की दृष्टि से भी वह अच्छी हो। उदाहरणवत् यदि उसके पास से रेलवे लाइन निकली हो, या अच्छी सड़कें आदि हों तो उसे अपनी पैदावार दूसरे स्थानों में भेजने में सुविधा होगी। इसी प्रकार यदि उस भूमि के पास नहर या बड़ा तालाब हो, तो सिंचाई सुगमता से हो सकेगी। और, अगर वह भूमि गाँव के पास ही है तो गाँव से लाकर उसमें खाद देने में विशेष कठिनाई न होगी। ऐसी भूमि को किसान अवश्य ही उस भूमि की अपेक्षा अधिक चाहेगा, जिसमें ये सुविधाएँ न हों। इस प्रकार कृषि-भूमि में उसके आन्तरिक गुणों तथा बाह्य परिस्थिति की अनुकूलता दोनों की जरूरत होती है।

खनिज भूमि में उसके आन्तरिक गुणों का विचार प्रधान रहता है, पर उससे दूसरे दर्जे पर बाह्य परिस्थिति का भी यथेष्ट महत्व है। किसी खान से पदार्थ निकालने के व्यवसाय में यह देखा जाता है कि इसको निकालने में जो व्यय होगा, वह उसको बाजार में ले जाकर बेचने से मिल जायगा या नहीं। यदि बाजार बहुत दूर है और वहाँ तक खनिज वस्तु ले जाने में बहुत अधिक खर्च पड़ता है, यहाँ तक उस पदार्थ को बेचने में कुछ नुकसान रहता है, तो कोई उस खान के उपयोग का विचार न करेगा।

व्यापार और कल-कारखानों के लिये भूमि का उपयोग करने में उसके आन्तरिक गुणों को प्रायः कुछ महत्व नहीं

दिया जाता। उसमें प्रधानता देखी जाती है, बाह्य परिस्थिति की। व्यापारी और कारखानेदार इस बात का विचार करते हैं कि उनकी भूमि अच्छे मौके पर हो। इससे उनका कारोबार अधिक चलेगा। यही कारण है कि साधारण ग्रामों की अपेक्षा राजधानियों, तीर्थों तथा दर्शनीय स्थानों में भूमि का मूल्य अधिक होता है। यहाँ बड़े बड़े नगर बस जाते हैं। फिर इन नगरों में भी मुख्य मुख्य बाजारों में छोटी-छोटी सी दुकान का भी बहुत अधिक किराया होता है। सब दुकानदार और व्यापारी चाहते हैं कि उन्हें मौके की जगह मिल जाय, इसलिये वे उसके लिये बहुत अधिक मूल्य देने को तत्पर रहते हैं—यद्यपि यह भूमि उत्पादकता की दृष्टि से कुछ विशेष उपयोगी नहीं होती।

भूमि के लक्षण ; परिमितता—'भूमि' के लक्षणों में पहले तो यही बात सामने आती है कि भूमि परिमाण में परिमित है। यह ठीक है कि दलदल, रेतीली, पथरीली, या जंगल की बेकार जमीन को उपयोगी बनाकर, अर्थशास्त्र में जिसे 'भूमि' कहा जाता है, उसका परिमाण बढ़ाया जा सकता है ; परन्तु प्रथम तो उसमें समय बहुत लगता है, दूसरे जितनी भूमि का पहले उपयोग होता है, उसकी तुलना में बढ़ायी हुई भूमि का अनुपात बहुत कम रहता है। इस प्रकार अल्पकालीन परिस्थिति का विचार करने से तो भूमि परिमित है ही, दीर्घ काल की दृष्टि से भी उसे प्रायः परिमित कहा जा सकता है। अर्थशास्त्र में 'भूमि' के अन्तर्गत जमीन से मिलने वाले खनिज पदार्थ, जंगल से मिलने वाली चीजें, तथा वर्षा, धूप, वायु प्रकाश आदि की भी गणना होती है, ये भी परिमित ही होते हैं। किसान को कितनी ही आवश्यकता हो, उसके खेत को मिलने वाली वर्षा और धूप की मात्रा

परिमित है, उससे अधिक नहीं मिलती। भूमि के खनिज पदार्थों की मात्रा की भी एक सीमा है। नदी, झील आदि में मछलियों का अथवा आखेट-भूमि में मिलने वाले शिकार का भी परिमाण, चाहे वह कितना ही अधिक हो, है तो परिमित ही। निदान, जैसा कि ऊपर कहा गया है, 'भूमि' परिमित ही मानी जाती है।

प्राकृतिक भूमि का लागत-खर्च नहीं होता—भूमि का दूसरा लक्षण यह है कि यह प्रकृति-दत्त है। यह परिमाण में परिमित अवश्य है, पर जितनी भी है, उसके लिये मनुष्यों को कुछ करना-धरना नहीं पड़ा। वह उन्हें बिना श्रम के ही मिल गयी। हाँ, यह बात प्रारम्भिक स्थिति के ही विषय में है। पीछे तो जिस व्यक्ति या व्यक्ति-समूह ने जिस भूमि पर अधिकार जमा लिया, वह उसको हो गयी, अब यदि कोई दूसरा आदमी उसे लेना चाहता है, तो उसे उसकी कीमत देनी पड़ती है। प्रायः भूमि-पतियों ने अपनी भूमि पर श्रम तथा पूँजी लगा कर उसे अधिक उपजाऊ बनाया है। अथवा उसके पास से रेलवे लाइन या सड़कें आदि निकलने से उसकी उपयोगिता बढ़ गयी है। इससे भी उसे लेने वाले को उसकी काफी कीमत देनी पड़ती है। कहीं कहीं ऐसा भी होता है कि राज्य या सरकार भूमि पर अपना स्वत्व समझती है, और जो आदमी उसका कोई भाग खेती या मकान आदि के लिये लेना चाहता है; वह सरकार के निर्धारित नियमों के अनुसार कीमत या किराया देता है।

अक्षयता—भूमि का तीसरा लक्षण अक्षयता है। भूमि अमर और अविनाशी कही जा सकती है।* यह ज़रूर है कि

---

* हिन्दू शास्त्रों ने प्रकृति (और जीव) को अमर और अजन्मा कहा है। अर्थशास्त्र में जिसे 'भूमि' कहा जाता है, उसका अर्थ बहुत उदार है,

बाढ़ या भूकम्प आदि के कारण कभी कभी स्थल की जगह जल, और जल की जगह स्थल हो जाता है। पर इससे भूमि के कुल परिमाण में अन्तर नहीं आता, किसी देश की जितनी भूमि आज दिन है, उतनी ही अब से सैकड़ों हज़ारों वर्ष ही नहीं, लाखों वर्ष पहले भी थी। इस लक्षण की विशेषता भूमि की, मनुष्य निर्मित अन्य पदार्थ से तुलना करने पर अच्छी तरह ध्यान में आती है। मनुष्यों द्वारा बनायी हुई चीजें हर रोज नष्ट होती रहती हैं। बहुत से विशाल और सुदृढ़ राज-भवन और क़िले भी कुछ शताब्दियों के अन्दर ही धराशायी हो गये, यद्यपि उनकी समय समय पर देख-भाल और मरम्मत होती रही। आज दिन मनुष्य अपनी जिन कृतियों का बड़ा अभिमान करता है, उनके विषय में भी उसे यह चिन्ता तो लगी ही है कि न मालूम ये कब काल के कराल गाल में समा जायँ। इसके विपरीत, भूमि समय की अनेक थपेड़ों को सहती हुई भी लाखों करोड़ों वर्षों से बनी हुई है, और जहाँ तक साधारण बुद्धि की पहुँच है, अभी अनन्त काल तक बनी रहेगी। निस्संदेह, यह बात भूमि के तल के सम्बन्ध में कही जा रही है, भूमि की उपयोगिता तो नित्य घटती बढ़ती रहती है। इसके सम्बन्ध में अन्यत्र विचार किया जायगा।

स्थिरता—भूमि स्थिर है उसका स्थान नहीं बदला जा सकता। आवश्यकतानुसार मनुष्य एक जगह से दूसरी जगह जा आ सकता है, अपनी पूँजी या औज़ारों आदि को वह अपने साथ चाहे जहाँ ले जा सकता है, पर भूमि के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। मनुष्य में भूमि का स्थान बदलने की क्षमता

यह प्रकृति के बहुत निकट है, यह पहिले कहा जा चुका है। यह भी अक्षय अर्थात् अमर है।

नहीं है ; वरन् भूमि का विचार करके उसे स्वयं अपना स्थान निश्चित करना पड़ता है। किसान का खेत, या दुकानदार की दुकान जिस जगह विद्यमान है, वहाँ जाकर ही उन्हें अपना कार्य करना पड़ता है।

निष्क्रियता—भूमि धनोत्पत्ति का एक निष्क्रिय साधन है, वह स्वयं कुछ काम नहीं करती, उससे काम लिया जाता है, और काम लेने वाला है, मनुष्य। मनुष्य अपना श्रम और पूँजी आदि लगा कर भूमि से धनोत्पत्ति करता है। परन्तु जहाँ भूमि निष्क्रिय है, उसके साथ यह बात भी है कि वह धनोत्पादन के लिये अनिवार्य है। एक तरह से वह श्रम से भी अधिक महत्व की है। मनुष्य बैठ कर श्रम तभी तो कर सकता है, जब भूमि, हवा और प्रकाश विद्यमान हों। भूमि के बिना किसी प्रकार की धनोत्पत्ति नहीं हो सकती, चाहे वह कृषि-जन्य पदार्थ सम्बन्धी हो या खनिज पदार्थ सम्बन्धी, अथवा शिल्प व्यवसाय या व्यापार आदि सम्बन्धी हो; इस विषय में पहले लिखा जा चुका है। परन्तु इसमें एक दूसरी भी दृष्टि है। भूमि और मनुष्य में मनुष्य ही सक्रिय साधन है, वही उत्पत्ति करने वाला है, वही उपभोक्ता भी है, उत्पादन और उपभोग की समस्याओं का केन्द्र मनुष्य ही है। इस प्रकार विचार करने से मनुष्य की प्रधानता प्रतीत होती है। अस्तु, भूमि और श्रम, अथवा प्रकृति और पुरुष, दोनों का अपना अपना महत्व है।

भूमि और श्रम की तुलना—पहले कहा जा चुका है कि साधारण से साधारण और छोटे से छोटे पैमाने का उत्पादन कार्य भी भूमि और श्रम के बिना नहीं हो सकता। प्रत्येक प्रकार की उत्पत्ति के लिये ये दोनों अनिवार्य साधन हैं। परन्तु श्रम गतिशील है, जब कि भूमि स्थिर है। भूमि जहाँ है, वहीं उससे

काम लिया जा सकता है, परन्तु श्रम करने वाले अपने निवास-स्थान से सैकड़ों हजारों मील दूर कार्य कर सकते हैं, और कर रहे हैं। पुनः भूमि का परिमाण परिमित है, वह बढ़ाया नहीं जा सकता जब कि श्रम का परिमाण आवश्यकतानुसार बढ़ाया जा सकता है। यदि एक देश के श्रमजीवी कम हैं, तो दूसरे देश के श्रमजीवियों को लाकर काम में लगाया जा सकता है, अथवा यदि सुदीर्घ काल की बात हो तो वहाँ ही जन-वृद्धि को प्रोत्साहन देकर, तथा स्वास्थ्यादि का समुचित प्रबन्ध करके ऐसी व्यवस्था की जा सकती है, कि कालान्तर में वहाँ ही श्रमजीवियों की संख्या और फलतः श्रम का परिमाण बढ़ जाय। इसके अतिरिक्त भूमि और श्रम में यह भेद है कि भूमि अक्षयशील है और श्रम नाशमान है। वास्तव में जिस क्षण श्रम से काम लिया जाता है, उसी क्षण वह नाश हो जाता है, उसके बाद वह श्रम ही नहीं रहता, और फलतः दूसरी बार उससे काम भी नहीं लिया जा सकता। उदाहरणवत यदि हम 'क' श्रमजीवियों के 'ख' समय तक काम करने के श्रम को श्रम की एक इकाई मानें तो इस इकाई से एक ही बार काम हो सकता है, इसके बाद श्रम की यह इकाई नष्ट हो जायगी, इससे और कोई काम नहीं हो सकेगा। इसके विपरीति भूमि की जिस इकाई से एक बार काम लिया जाता है, उससे बार बार चाहे जितनी दफ़ा काम ले सकते हैं, और लेते हैं; यहाँ तक कि जो भूमि हजारों लाखों वर्ष पहले काम में आती थी, वही अब भी काम दे रही है, कारण, जैसा कि पहले कहा गया है, वह श्रम की तरह नाशमान नहीं है।

भूमि और पूँजी की तुलना—पूँजी वह धन है, जो मनुष्य ने अपने श्रम से उत्पन्न करके अधिक धनोत्पत्ति के लिये संचित किया। इसके विपरीत, जैसा कि पहले कहा गया है, भूमि के लिये (जहाँ तक कि अर्थशास्त्र में उसके विशुद्ध रूप का विचार

किया जाता है) मनुष्य को कुछ श्रम नहीं करना पड़ा, वह तो प्रकृति-दत्त ही है। पुनः भूमि अक्षय है, और पूँजी नाशमान है, अतः समय समय पर धनोत्पादन में उसे बदलते रहना पड़ता है। इसके अतिरिक्त, भूमि स्थिर और परिमाण में परिमित है जब कि पूँजी एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जायी जा सकती है और आवश्यकतानुसार घटायी बढ़ायी जा सकती है।

भूमि की उन्नति के उपाय—भिन्न भिन्न स्थानों की भूमि में विविध गुण दोष होते हैं, कहीं भूमि अधिक उपयोगी होती है, कहीं कम, यह पहले कहा जा चुका है। अब हमें यहाँ यह विचार करना है कि उसके विविध विकारों को दूर करके, किस प्रकार और कहाँ तक उसे अधिक उपयोगी बनाया जा सकता है। स्मरण रहे कि ज्यों ज्यों मनुष्य का ज्ञान और अनुभव बढ़ता जाता है, और नये नये वैज्ञानिक आविष्कार होते जाते हैं, इस विषय में अधिक प्रगति हो रही है। कितनी ही बातें ऐसी हैं, जिन्हें पहले ला-इलाज या अ-साध्य समझा जाता था, अब विज्ञान की सहायता से उनका सुधार हो रहा है। तथापि भूमि के कुछ विकार अब भी ऐसे हैं, जिनको दूर करने में अभी तक पर्याप्त सफलता नहीं मिली है, आशा है कि वैज्ञानिक उन्नति से क्रमशः इस ओर आगे कदम बढ़ता रहेगा।

भूमि की वृद्धि—पहले कहा जा चुका है कि भूमि का एक मुख्य लक्षण इसकी परिमितता है। भूमि को इच्छानुसार नहीं बढ़ाया जा सकता, फिर भी यथा-सम्भव इसके स्थल भाग को बढ़ाने तथा इसकी उपयोगिता की वृद्धि करने का प्रयत्न किया जाता है। समुद्र के किनारे सिमेन्ट और पत्थर आदि डाल कर भूमि बढ़ायी जाती है, यद्यपि इसमें खर्च बहुत होता है, तथापि कभी कभी इस भूमि का मूल्य भी बहुत होता है, इसलिये

इसका बढ़ना लाभदायक होता है। भारतवर्ष में करांची और बम्बई में ऐसी भूमि बढ़ायी गयी है। कभी कभी नये टापुओं की खोज से भी भूमि की वृद्धि हो जाती है, हां, इसकी गुंजायश अब बहुत कम रही है।

दलदल वाली भूमि का, विशेष नालियों द्वारा पानी निकाल कर उसे उपजाऊ अथवा रहने के लायक बनाया जाता है। भारतवर्ष में कलकत्ते की बहुत सी भूमि पहले दलदल थी, अब कितनी बहुमूल्य हो गयी है। रेगिस्तान की भूमि बहुत कम उपयोगी होती है। उसकी उपयोगिता बढ़ाने के लिये भी विविध उपाय काम में लाये जाते हैं।

पहाड़ों पर बहुत सी भूमि ऐसी होती है, जिसकी उपयोगिता बहुत कम होती है। पहाड़ों को बारूद से काट कर वहां की भूमि को रहने योग्य बनाया जाता है; अथवा वहां रेलवे लाइन खुल जाने से भी वहां आदमियों का आना जाना बढ़ जाता है। बहुत से आदमी स्वास्थ्य की दृष्टि से, वहां रहने के लिए मकान भी बना लेते हैं, विशेषतया गर्मी के दिनों में वहां धनवानों के काफी संख्या में चले जाने से काफी चहल-पहल रहती है।

ध्रुवों के पास की भूमि में इतनी अधिक सर्दी है कि वहां मनुष्य का रहना नहीं हो सकता, परन्तु वैज्ञानिक उन्नति से ऐसी सम्भावना प्रतीत होने लगी है, कि मनुष्य उस भूमि का उपयोग कर सके। यह आशा की जा रही है कि वैसा समय अधिकाधिक निकट आ रहा है।

परती भूमि का उपयोग ; खाद—प्रायः जब भूमि में एक फसल पैदा हो चुकती है, तो उसके कुछ रासायनिक तत्वों की कमी हो जाती है। इनकी पूर्ति कुछ अंश में स्वयं समय

द्वारा भी होती रहती है। इसलिये कितने ही किसान एक फसल के बाद भूमि को परती छोड़ देते हैं, जिससे उसके जो जो तत्व फसल बोने से चले गये हैं, वे वायु-मंडल द्वारा उसमें आ जायँ। परन्तु ऐसा करने से एक तो इतने समय तक भूमि का कुछ उपयोग नहीं होता, दूसरे जो तत्व भूमि में से चले गये हैं, वे उसमें पूर्णतः नहीं आते, वायुमंडल से उनका कुछ अंश ही आता है। उक्त तत्वों की यथेष्ट पूर्ति उचित और आवश्यक खाद के देने से हो सकती है। परन्तु यद्यपि प्रायः सभी किसान भूमि में खाद देते हैं, यह विषय बड़ा गहन है कि किस फसल के बाद किस प्रकार का कितना खाद देना चाहिये। भारतवर्ष में प्रायः गोबर, और मलमूत्र तथा सड़े हुए पत्तों आदि का खाद दिया जाता है। गोबर का खाद बहुत उपयोगी होता है, परन्तु यहाँ अधिकतर स्थानों में इस खाद को उचित रीति से संचित नहीं किया जाता, इससे उसका बहुत सा गुण नष्ट हो जाता है। इसके अतिरिक्त यहाँ इस खाद का काफी परिमाण में उपयोग नहीं किया जाता, बहुत सा गोबर, लकड़ी के अभाव या महँगेपन के कारण, कंडों या उपलों के रूप में जला दिया जाता है।

इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि किसान लोग यह जानें कि गोबर आदि को किस प्रकार संचित करके रखा जाय जिससे वह खाद के लिये अधिक से अधिक उपयोगी हो। इसके साथ ही उन्हें यह भी ज्ञान प्राप्त करना चाहिये कि बस्ती का गन्दा पानी तथा मरे हुए पशु पक्षियों की हड्डी और रक्त आदि को व्यर्थ न जाने देकर उनका खाद के रूप में किस प्रकार उपयोग किया जा सकता है, तथा हरी खाद देने की क्या विधि है।

परन्तु यही पर्याप्त नहीं है। अब तो वैज्ञानिकों ने इस बात का ठीक ठीक हिसाब लगा लिया है कि अमुक फसल के बोये

जाने से भूमि के अमुक अमुक तत्व इतने इतने परिमाण में खर्च हो जाते हैं; और, अमुक रीति से विविध पदार्थों से वैज्ञानिक खाद तैयार करके उसके द्वारा उक्त तत्वों की यथेष्ट पूर्ति हो सकती है। किसानों को चाहिये कि इस जानकारी से यथेष्ट लाभ उठावें। स्थानाभाव के कारण, हम यहाँ इस विषय की विशेष चर्चा करने में असमर्थ हैं।

फसलों का हेर-फेर—यदि फसलों के हेर-फेर के सिद्धान्त को अच्छी तरह काम में लाया जाय, तो इससे भी भूमि परती छोड़ने की आवश्यकता कम रह जाती है। फसलों के हेर-फेर का आशय यह है कि भूमि में एक फसल के बाद दूसरी ऐसी फसल बोई जाय जिसे उन तत्वों की आवश्यकता हो, जो पहली फसल पैदा होने के बाद शेष हों। इस बीच में वायु-मंडल द्वारा भूमि के उन तत्वों की यथा सम्भव पूर्ति हो जायगी, जो पहली फसल की पैदावार से खर्च हुए हैं। प्रायः किसान फसलों को हेर-फेर से बोते हैं, तथापि आवश्यकता है कि वे इस सिद्धान्त को अच्छी तरह समझें और इससे सम्यग् लाभ उठावें।

गहरी खेती—भूमि को अधिक उपजाऊ बनाने के लिये उसे परती छोड़ने की अपेक्षा, खाद देने और फसलों का हेर-फेर करने की उपयोगिता ऊपर बतायी जा चुकी है। परन्तु यदि भूमि में खेती गहरी की जाय तो पैदावार और अधिक बढ़ सकती है। बात यह है कि फसल के द्वारा भूमि के जो तत्व ले लिये जाते हैं, वे ऊपर के तल में से ही तो लिये जाते हैं। उससे नीचे की मिट्टी में तो वे तत्व मौजूद रहते हैं; जब अच्छे बढ़िया उन्नत ढंग के हलों या यंत्रों द्वारा वह मिट्टी ऊपर आ जायगी तो पैदावार भी अच्छी हो सकेगी। निस्सन्देह गहरी खेती करने में श्रम और पूँजी अधिक लगती है। परन्तु जिन स्थानों में भूमि

की कमी होती है, और पैदावार बढ़ाने के लिये आवश्यकतानुसार अधिक भूमि नहीं मिलती, अर्थात् विस्तृत खेती करने की गुंजाइश नहीं रहती, तो पुराने खेतों मे ही अधिक उत्पत्ति करने का यत्न किया जाता है।

खेतों के छोटे छोटे और दूर दूर रहने से होने वाली हानियों को रोकना—अनेक किसानों के खेतों का क्षेत्रफल बहुत कम होता है, अथवा उनके एक से अधिक खेत होते हैं, जो एक दूसरे से बहुत दूर होते हैं। इससे किसानों को बहुत हानि होती है। छोटे खेतों में वैज्ञानिक यंत्र आदि का उपयोग नहीं हो सकता, अथवा उसमें अधिक पूँजी लगाना यथेष्ट लाभ-प्रद नहीं होता। दूर दूर के खेतों की रखवाली करने और मेंड़ बनाने में, तथा उन में जाने के लिये रास्ता बनाने और उनमें नहर से पानी लेने में बहुत खर्च और बड़ी असुविधा होती है। इसलिये किसान उक्त खेतों से यथेष्ट लाभ नहीं उठा सकते। इन हानियों को दूर किया जाना आवश्यक है; इसका उपाय यह है कि प्रत्येक ग्राम या ग्राम-समूह के सब खेतों के मूल्य का अनुमान किया जाय, और एक एक किसान के खेतों का जितना मूल्य हो, उतने उतने मूल्य के खेत एक स्थान में, एक चक में, कर दिये जायँ, और भविष्य में उनका छोटे छोटे टुकड़ों में बाँटा जाना बन्द कर दिया जाय। जहाँ एक परिवार के दो तीन आदमियों के पास कई छोटे छोटे खेत हों, उनके खेत, उनमें समझौता करा के किसी एक ही व्यक्ति को दिला दिये जायँ, दूसरे आदमियों को उनके हिस्से का रुपया मिल जाय। कुछ स्थानों में अर्द्ध सरकारी रूप से सहकारी समितियों द्वारा ऐसा प्रयत्न सफलता-पूर्वक किया गया है; अन्यत्र भी किया जा सकता है।

राज्य द्वारा कृषि—उपर्युक्त उपायों से खेतों के छोटे छोटे तथा दूर दूर होने की हानियाँ कुछ अंश में हटायी जा सकती हैं। तथापि इन उपायों से अभीष्ट-सिद्धि नहीं होती। अनेक खेत बहुत छोटे छोटे रह ही जाते हैं। अथवा यह भी सम्भव है कि एक आदमी के पास इतनी अधिक भूमि हो कि वह उस का सम्यक् उपयोग न कर सके, उस के पास यथेष्ट पूँजी न हो। उसके प्रबन्ध आदि में कुछ दोष तथा फजूल-खर्ची हो। इन बातों का विचार करके, कुछ लोगों का मत है कि देश की समस्त भूमि पर राज्य का अधिकार हो, वही उसमें श्रम और पूँजी लगाकर खेती कराये।

यदि राज्य खेती कराने का काम करे, तो खेतों के छोटे छोटे और दूर दूर होने का प्रश्न ही उपस्थित न हो; क्योंकि देश की, एक सिरे से दूसरे सिरे तक समस्त भूमि उसी के अधिकार में होती है। फिर, उसके पास श्रम या पूँजी की कमी नहीं होती (आवश्यकता होने पर उसे अन्य राज्यों से साधारण दर पर काफी रुपया उधार भी मिल सकता है।) वह नये से नये उन्नत ढँग के आविष्कारों और यंत्रों तथा कुशल श्रमजीवियों का उपयोग करके अपेक्षाकृत कम खर्च से अच्छी खेती करा सकता है।

यद्यपि ये बातें पहले भी सिद्धान्त के रूप से कही जाती थी, परन्तु ऐसा कोई प्रयोग किये जाने का अवसर नहीं आया था। इसलिये लोगों को इसकी सफलता में विश्वास नहीं था, इस के विषय में तरह तरह के तर्क उपस्थित किये जाते थे। पर, अब रूस की सोवियट सरकार ने अपने राज्य की विशाल भूमि पर, बड़े पैमाने से खेती करके प्रत्यक्ष रूप में, उपर्युक्त तर्क का उत्तर दे दिया है, विपक्ष के सब आक्षेपों का खंडन कर दिया है, और यह दिखा दिया है कि राज्य द्वारा

खेती कराये जाने से, वहाँ पैदावार इतनी सस्ती हो गयी है कि संसार के ऐसे किसी भी देश के बाजार में वह सफलता-पूर्वक प्रतियोगिता कर सकती है, जिसमें खेती का कार्य राज्य द्वारा न होकर व्यक्तियों द्वारा किया जाता है। रूस की सरकार द्वारा जो खेती की जाती है, उसमें केवल मज़दूरों का ही भाग है, कोई ज़मींदार या पूँजीपति नहीं। रूस के इस प्रयोग की ओर आज दिन संसार की आँखें लगी हुई हैं, आश्चर्य नहीं, धीरे धीरे इसे अन्य देश भी, आरम्भ में कुछ हिचकिचाहट से ही सही, अपनाने लगें।

छठवाँ अध्याय

श्रम के भेद और लक्षण

—:*:—

पिछले अध्याय में उत्पत्ति के एक साधन भूमि का विचार किया जा चुका है। अब हम दूसरे साधन, श्रम के विषय में विचार करते हैं। 'श्रम' के अन्तर्गत मनुष्य द्वारा किया हुआ मानसिक या शारीरिक वह सब प्रयत्न सम्मिलित है, जिसे वह अपने मनोरंजन के लिये न कर धनोत्पत्ति के उद्देश्य से करता है। धनोत्पत्ति का आशय क्या है, और उसमें किस किस प्रकार की क्रियाओं का समावेश होता है, यह हम पहले बता चुके हैं। 'भूमि' के अध्याय में यह कहा जा चुका है कि यद्यपि भूमि से बहुत सी उपयोगी वस्तुएँ प्राकृतिक रूप में मिलती है, परन्तु प्रथम तो अधिकांश भूमि ऐसी है, जिसे मनुष्य ने अपने श्रम से अधिक उत्पादक बनाया है,

दूसरे उससे मिलने वाले पदार्थ भी श्रम के बिना विशेष उपयोगी नहीं होते, उन्हें संग्रह करके रखने में, या उन्हें ऐसे रूप में लाने में कि वे मनुष्य की आवश्यकताओं को पूर्ण कर सकें, श्रम की आवश्यकता होती है।

श्रम और धनोत्पत्ति—हमने कहा है कि श्रम वह प्रयत्न है जो मनोरंजन के लिये न किया जाकर धनोत्पत्ति के लिये किया जाय। इस बात को थोड़ा स्पष्ट करने की आवश्यकता है। धनोत्पत्ति के लिये किये हुए प्रयत्नों में भी कभी कभी कुछ मनुष्यों को मनोरंजन होता है। अनेक लेखक, कवि, चित्रकार ही नहीं, शिल्पी आदि भी जब अपने कार्य में लगते हैं, तो कभी कभी उसमें इतने मग्न हो जाते हैं कि उन्हें उस में कुछ कष्ट का अनुभव न होकर, विशेष प्रकार का आनन्द मिलता है। परन्तु जब ये लोग अपना कार्य धनोत्पादन के लिये करते हैं तब उनका प्रयत्न श्रम ही कहा जायगा, चाहे इसमें उनका दिल-बहलाव भी क्यों न होता हो। कुछ दशाओं में, ये लोग अपने कार्य को उस समय तक भी जारी रखते हैं, जब वह उनके आनन्द का हेतु न रह कर कुछ कष्ट-साध्य भी होता है। इसके विपरीत, कुश्ती लड़ने वालों या क्रिकेट फुटबाल खेलने वालों को यद्यपि काफी परिश्रम होता है, उनकी क्रिया को अर्थशास्त्र में श्रम नहीं माना जाता। हाँ, जब उन लोगों की कोई ऐसी 'टीम' या 'पार्टी' हो, जिसका पेशा ही कुश्ती लड़ना, या क्रिकेट फुटबाल खेलना हो, और वे इन कार्यों को धनोत्पत्ति के लिये करते हों, तो उनका प्रयत्न श्रम माना जाता है।

इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि अनेक स्थानों में यथासम्भव इस बात का प्रयत्न किया जाता है कि श्रम में कष्ट का विशेष अनुभव न करना पड़े। कुछ स्थानों में इस विचार से श्रम

के घंटे कम किये गये हैं, और अन्य स्थानों में कम किये जा रहे हैं। श्रम के घंटों के बीच में विश्राम की व्यवस्था की जाती है, और इस बात का भी थोड़ा बहुत विचार किया जाता है कि श्रमजीवियों को एक काम छोड़ कर दूसरा काम करने का अवसर दिया जाय, जिससे उनकी निरसता कम हो। इस प्रकार, श्रम में कष्ट का भाव कम करने और उसमें मनोरंजन के समावेश का प्रयत्न हो रहा है। तथापि उसका लक्ष्य मनोरंजन न होकर धनोत्पत्ति ही होता है।

श्रम और मनुष्य—अब हम यह बतलाते हैं कि श्रम की परिभाषा में प्रयत्न के साथ 'मनुष्य द्वारा किया हुआ' कहने की क्या आवश्यकता है। बात यह है कि बहुत सी धनोत्पत्ति पशुओं द्वारा अर्थात् उनकी सहायता से की जाती है। पशु हल चलाते हैं, माल ढोते हैं, मनुष्यों के लिये शिकार करते हैं, वृक्षों से लकड़ियाँ तोड़ते हैं, इत्यादि। इसी प्रकार आज कल के जमाने में मशीनों या यंत्रों से भी काम लिया जाता है। यदि ये कार्य पशु तथा यंत्र न करें, तो मनुष्य को स्वयं करने पड़ें। हमने ऐसे निर्धन किसान देखे हैं जिनके पास मशीनों और यंत्रों की बात तो दूर रही, खेती करने के लिये बैल भी नहीं थे, और जो स्वयं हल चलाते थे। अस्तु, मनुष्य के ज्ञान की वृद्धि होने पर उसने पहले पशुओं से, और फिर क्रमशः यंत्रों से काम लेना आरम्भ किया। अब, उसके द्वारा किया जाने वाला बहुत सा काम पशुओं और यंत्रों से होता है। तथापि अर्थशास्त्र में धनोत्पत्ति में सहायक होने वाले पशु और यंत्र आदि, पूँजी में गिने जाते हैं, जिसका विचार किसी अगले अध्याय में किया जायगा। श्रम के अन्तर्गत केवल मनुष्य द्वारा किया हुआ प्रयत्न ही समझा जाता है; और जैसा कि पहले कहा जा चुका है, वह प्रयत्न ऐसा होना चाहिये जो धनोत्पत्ति में सहायक हो।

मानसिक और शारीरिक श्रम—साधारण व्यवहार में कुछ आदमी शारीरिक और कुछ आदमी मानसिक श्रम करने वाले कहे जाते हैं। कुली, मज़दूर, किसान, साधारण कारीगर, बढ़ई और लुहार आदि पहली श्रेणी में गिने जाते हैं, और कवि, लेखक, चित्रकार, अध्यापक, डाक्टर, वकील आदि दूसरी श्रेणी के माने जाते हैं। परन्तु कुछ आदमी शरीर और मस्तिष्क दोनों से ही काम करते हैं, उदाहरणवत् कुशल श्रमजीवी या शिल्पी। अस्तु, अर्थशास्त्र में इस भेद को कुछ महत्व नहीं दिया जाता; दोनों प्रकार का प्रयत्न श्रम के अन्तर्गत गिना जाता है। शारीरिक कार्य करने वाले हों, या मानसिक, जो व्यक्ति धनोत्पत्ति का कार्य करते हैं, वे सब श्रमजीवी माने जाते हैं।

उत्पादक और अनुत्पादक श्रम—जैसा कि ऊपर कहा गया है, अर्थशास्त्र में उसी श्रम का विचार किया जाता है, जिससे धन की उत्पत्ति या वृद्धि में सहायता मिले। ऐसे श्रम को उत्पादक श्रम कहते हैं। इसके विपरीत, जिस श्रम से धनोत्पत्ति अर्थात् किसी वस्तु की उपयोगिता-वृद्धि न होती हो उसे अनुत्पादक कहते हैं। उत्पादक और अनुत्पादक श्रम का अन्तर उदाहरण द्वारा अच्छी तरह समझ में आ जायगा। यदि कोई आदमी एक स्थान से मिट्टी खोद कर और उसको डलिया भर भर कर दूसरे स्थान पर डालता है, परन्तु न तो उक्त स्थान से उस के मिट्टी खोदने की ही आवश्यकता है, और न दूसरे स्थान पर उसके मिट्टी डालने की ही आवश्यकता है, तो उसका यह श्रम अनुत्पादक श्रम कहा जायगा। आदमी ऐसा काम प्रायः अज्ञान-वश ही करता है। वह प्रायः उत्पादक श्रम ही करना चाहता है। परन्तु कभी कभी उत्पादक श्रम भी अनुत्पादक बन जाता है। एक आदमी किसी कार्य का आयोजन करता है,

और उसके लिये भाँति भाँति का श्रम करता है, यदि उपर्युक्त आयोजन के अनुसार कार्य पूरा किया जाय तो उसके लिये किया हुआ सब श्रम उत्पादक होगा, परन्तु किसी कारणवश उक्त आयोजन स्थगित कर देना पड़े तो वह सब श्रम व्यर्थ रहेगा, अनुत्पादक होगा। उदाहरणवत् कोई आदमी नदी के किनारे, सुन्दर सुदृढ़ भवन बनवाना चाहता है, इस के लिये वह धीरे धीरे रुपया संचित करता है, फिर नक़शा बनवाता है, और पत्र-व्यवहार करके, तथा एजन्ट भेज कर मालूम करता है, कि भवन-निर्माण की कौनसी सामग्री कहाँ बढ़िया और सस्ती मिलेगी, फिर आर्डर भेज कर दूर दूर से आवश्यक सामग्री मंगवाता है। इस प्रकार कल्पना करो उस की मूल योजना के बाद तीन चार वर्ष का समय बीत जाता है, और अब मालूम होता है नदी का प्रवाह बदल गया है, जिस जगह उसने भवन-निर्माण करने का सोचा था, वह नदी के तट से बहुत दूर रहेगी। इस पर उसे अपना भवन-निर्माण का विचार स्थगित कर देना पड़ता है, फल-स्वरूप उसका इस दिशा में किया हुआ, अब तक का सब श्रम अनुत्पादक हो जाता है।

इसी प्रकार लेखन कार्य का उदाहरण लिया जा सकता है। कभी कभी कोई लेखक विशेष घटनाओं तथा अंकों के आधार पर पुस्तक लिखता है, उसमें वह पर्याप्त श्रम करता है, परन्तु उसे कोई प्रकाशक नहीं मिलता। कुछ समय बीतने बाद उन घटनाओं का महत्व नहीं रहता, या अंक पुराने पड़ जाते हैं, और उनके आधार पर की हुई रचना कुछ उपयोगी नहीं रहती। यदि कोई प्रकाशक अब उसी तरह की पुस्तक चाहता भी हो तो लेखक को अपनी कृति के यथेष्ट संशोधन में लगभग उतना ही श्रम करना पड़ता है, जितना सर्वथा नयी पुस्तक लिखने में लगता। ऐसी दशा में उसका पूर्व-कृत श्रम अनुत्पादक हो जाता है।

कभी कभी ऐसा भी होता है कि एक ही प्रकार का कार्य भिन्न भिन्न स्थिति के कारण एक व्यक्ति के लिये उत्पादक और दूसरे के लिये अनुत्पादक होता है। उदाहरणवत् एक आदमी प्राचीन ऐतिहासिक इमारतों तथा खंडहरों को देखने जाता है, और दूसरा आदमी उसे ये चीज़ें दिखाने और इनका परिचय देने का काम करता है। यद्यपि दोनों उन्हीं वस्तुओं को देखते हैं, दर्शक को इससे कोई आय नहीं होती, जहाँ तक उसका सम्बन्ध है यह कार्य अनुत्पादक ही है। इसके विपरीत पथ-प्रदर्शक या 'गाइड' को उसके श्रम के प्रतिफल-स्वरूप वेतन या पुरस्कार मिलता है, उसकी दृष्टि से यह कार्य उत्पादक है।

उत्पादक श्रम के दो भेद; प्रत्यक्ष और परोक्ष—उत्पादक श्रम किसे कहते हैं, यह ऊपर बताया गया है। उसके दो भेद होते हैं, प्रत्यक्ष और परोक्ष। जो श्रम किसी उपयोगी वस्तु के अंतिम रूप को तैयार करने में लगता है, या जिससे पदार्थों में प्रत्यक्ष उपयोगिता की वृद्धि होती है, वह प्रत्यक्ष उत्पादक कहलाता है। उदाहरणार्थ, लकड़ी से हल बनाने में बढ़ई जो श्रम करता है वह प्रत्यक्ष उत्पादक श्रम है। यह श्रम हल के अंतिम रूप को तैयार करने में लगा है। उससे पहले लकड़ी को जंगल से लाने में भी श्रम लग चुका है, वह श्रम उत्पादक होते हुए भी प्रत्यक्ष उत्पादक नहीं कहा जाता। वह श्रम वस्तु के पूर्व रूप के तैयार करने में लगा है, उससे परोक्ष उत्पादकता आती है। उसे श्रम को परोक्ष उत्पादक कहा जाता है। इस प्रकार के अन्य श्रम का उदाहरण अध्यापकों का श्रम है, इससे प्रत्यक्ष में कुछ धनोत्पत्ति नहीं होती, परन्तु इससे दूसरे मनुष्य शिक्षा पाकर धन उत्पन्न करने योग्य बन जाते हैं।

व्यक्तिगत और सामाजिक दृष्टि—स्मरण रहे कि कुछ

श्रम जो सामाजिक दृष्टि से उत्पादक होते हैं, वे व्यक्ति को दृष्टि से अनुत्पादक हो सकते हैं; इसी प्रकार कुछ श्रम ऐसे हैं जो व्यक्ति की दृष्टि से देखे जायँ तो उत्पादक प्रतीत होते हैं, परन्तु समाज की दृष्टि से अनुत्पादक होते हैं। एक आदमी चोरी करके धन लाता है, उसका श्रम उस की दृष्टि से धनोत्पादक है, परन्तु समाज को इससे कोई लाभ नहीं, वरन् बहुत हानि है। ऐसे लोगों के कार्य क़ानून द्वारा दंडनीय ठहराये जाते हैं, और उनसे समाज की रक्षा के लिये, सरकार को पुलिस और न्यायालय तथा जेल आदि की व्यवस्था करनी होती है।

अब ऐसे श्रम का उदाहरण लेते हैं, जो समाज की दृष्टि से अनुत्पादक तो हैं परन्तु राज्य से दंडनीय नहीं ठहराये जाते। आतिशबाजी में खर्च किये हुए धन से किसी का कुछ लाभ नहीं होता; उसमें क्षण भर में ही बहुत से श्रम से बनी हुई वस्तु भस्म हो जाती है। अतः यह श्रम सामाजिक दृष्टि से अनुत्पादक कहा जाना चाहिये। पर व्यक्तिगत दृष्टि से ऐसा नहीं है, कारण, कि आतिशबाजी बनाने वाले ने ऐसी वस्तु बनायी है, जिससे किसी की आवश्यकता की पूर्ति हुई, और जिसके बदले में उसे धन मिला, बस, व्यक्ति की दृष्टि से उस का श्रम उत्पादक माना जाता है। इसी प्रकार विविध विलासिताओं तथा नशे की वस्तुओं के उत्पादन में लगा हुआ श्रम भी व्यक्ति की दृष्टि से उत्पादक गिना जाता है। इससे समाज का हित नहीं होता, उसकी दृष्टि से यह अनुत्पादक है। उक्त श्रम करने वालों का कार्य राज्य के क़ानून से दंडनीय नहीं ठहराया जाता। ऐसे कुछ अन्य श्रम जो व्यक्ति की दृष्टि से उत्पादक और समाज की दृष्टि से अनुत्पादक है, परन्तु क़ानून द्वारा दंडनीय नहीं ठहराये जाते, उन वकील और जमींदारों आदि के हैं, जो देश में मुकद्दमेबाजी बढ़ाने या किसानों की दशा बिगाड़ने में सहायक होते हैं। ये

लोग प्रायः काफी धन कमाते हैं, परन्तु समाज को इनसे लाभ के बदले हानि ही होती है। इनका श्रम समाज की दृष्टि से अनुत्पादक है। तथापि इनका कार्य क़ानून-विरोधी या दंडनीय नहीं माना जाता।

ऊपर हमने ऐसे श्रम के उदाहरण दिये हैं, जो व्यक्ति की दृष्टि से उत्पादक और समाज की दृष्टि से अनुत्पादक हैं। इस श्रम के करने वाले अपने व्यक्तिगत स्वार्थ का ध्यान रख कर काम करते हैं। परन्तु संसार में ऐसे परोपकारी, महात्माओं, संतों और स्वयं-सेवकों का भी अभाव नहीं है—हाँ, उनकी संख्या अपेक्षाकृत बहुत कम रहती है—जो अपने व्यक्तिगत स्वार्थ की प्रायः अवहेलना करके भी अपना जीवन अपनी जाति, देश, या मानव समाज के हितार्थ अर्पण करते हैं। जब कोई आदमी बहुत कष्ट उठा कर समाज की सेवा करता है, उपदेशक कथा-वाचक या चिकित्सक का कार्य करता है, परन्तु अपने श्रम में धनोत्पत्ति का उद्देश्य नहीं रखता, और उसके उपलक्ष में कोई धन न लेकर सब कार्य अवैतनिक रूप से करता है, तो यह श्रम समाज की दृष्टि से उत्पादक, और व्यक्ति की दृष्टि से अनुत्पादक कहा जाता है।

श्रम के लक्षण—धनोत्पत्ति के लिये श्रम एक अत्यावश्यक अनिवार्य साधन है; धनोत्पादन सम्बन्धी किसी भी प्रकार का कार्य हो, वह श्रम के बिना नहीं हो सकता, यह पहले कहा जा चुका है। अब इसके लक्षणों पर विचार करते हैं।

धनोत्पत्ति के अन्य साधनों में भूमि निष्क्रिय है, और पूँजी बिना श्रम के संचित नहीं होती। श्रम ही एक सक्रिय साधन है, उसके बिना, भूमि और पूँजी का उपयोग नहीं हो सकता। पुनः भूमि और पूँजी तो केवल उत्पत्ति में भाग लेने वाले हैं, परन्तु

श्रम उसके अतिरिक्त उत्पन्न वस्तुओं का उपभोक्ता भी है, बहुत सी उत्पत्ति श्रमजीवियों के लिये ही की जाती है।

श्रम की नाशमानता—जैसा कि पहले बताया जा चुका है, श्रम नाशमान है। श्रम का जिस क्षण प्रादुर्भाव होता है, उसी क्षण ही उसका नाश हो जाता है। उससे दूसरी बार काम नहीं लिया जा सकता। भूमि और अचल पूँजी चिरकाल तक, बारम्बार धनोत्पादन कर सकती हैं, और करती है। श्रम का तो हर समय ह्रास होता रहता है। उसको पूँजी या अन्य पदार्थों की भाँति संचय करके नहीं रखा जा सकता। सम्भव है कि जो आदमी एक दिन श्रम न करे, वह अगले दिन उससे कुछ अधिक काम कर सके, जितना वह पहले दिन भी श्रम करने की दशा में करता, परन्तु एक दिन कार्य न करने से अगले दिन दुगना काम करना तो कठिन ही होगा, और दो दिन काम न करने से, तीसरे दिन तिगुना, अथवा एक मास काम न करके, अगले मास में दो महीनों का कार्य करना तो असम्भव ही है। और, क्योंकि बेकारी की दशा में भी श्रमजीवी को अपने भोजन आदि के लिये खर्च करने की आवश्यकता होती है, इसलिये वह अपने श्रम को हर घड़ी बेचने के लिये उत्सुक रहता है। इसका परिणाम यह होता है कि बाजार में श्रम की स्थिति, शीघ्र नष्ट होने वाले पदार्थों की सी होती है। खरीददार के सामने वह देर तक नहीं डट सकता, उसे जल्दी ही झुकना पड़ता है। इससे श्रम का मूल्य अपेक्षाकृत कम रहने की सम्भावना रहती है। यह बात विशेषतया निम्न प्रकार के, अर्थात् अकुशल श्रम के सम्बन्ध में चरितार्थ होती है। हाँ, इसका कुछ उपाय श्रमजीवियों के संगठन अर्थात् मजदूर सभाओं द्वारा किया जाता है। इनमें सभाओं की सहायता से श्रम का विक्रय वैयक्तिक न होकर सामुहिक होता है।

श्रम की गतिशीलता ; स्थान परिवर्तन—श्रम गतिशील है वह एक स्थान से दूसरे स्थान तथा एक व्यवसाय से दूसरे व्यवसाय में जा आ सकता है। पर इस में कुछ बाधाएँ भी हैं। जनता के प्रवास के सम्बन्ध में आगे विचार किया जायगा। यदि स्थान-परिवर्तन यथेष्ट रूप में हो सके तो जन संख्या का वर्तमान असमान वितरण—एक जगह आर्थिक स्थिति के विचार से अधिक, और दूसरी जगह कम आदमियों के रहने की बात—दूर होने में बड़ी सहायता मिले। परन्तु प्रथम तो लोगों का अपने घर परिवार नगर आदि का मोह छोड़ना कठिन है। फिर, दूसरी जगह जाने में खर्च पड़ता है। सम्भव है वहाँ चीजें कुछ महँगी हों। भिन्न भिन्न स्थानों का रहन सहन, भाषा, आचार विचार, जल वायु आदि भिन्न होता ही है। बहुधा दूसरे स्थान में आदमियों को यथेष्ट सहानुभूति की जगह कुछ विद्वेष भाव मिलता है। भारतवर्ष आदि देशों में कुछ सामाजिक या धार्मिक बाधाएँ भी हैं। तथापि जीवन-संग्राम का संघर्ष बढ़ने के कारण उपर्युक्त बाधाओं पर क्रमशः विजय प्राप्त की जा रही है। इस में आमोदरफ्त के साधनों की वृद्धि से बहुत सहायता मिलती है।

व्यवसाय परिवर्तन—साधारणतया आदमी जो धन्धा करता है, उसी के लिये उसकी सन्तान भी तैयार हो जाती है, कारण, कि उस व्यवसाय की शिक्षा आदि उसे सहज ही, बहुधा घर पर ही मिल जाती है। अपनी विशेष रुचि के कारण कुछ युवक अपने पैत्रिक कार्य को छोड़ते हैं, तो इससे जैसे एक काम के करने वालों में कमी होती है, वैसे कुछ अन्य कार्य करने वाले युवक इस कार्य के करने वालों में शामिल हो जाते हैं। इस प्रकार कुल मिला कर प्रायः एक व्यवसाय वालों की संख्या, उस व्यवसाय में पूर्व पीढ़ी में लगे हुए लोगों की संख्या पर निर्भर

होती है, और कुल जन-संख्या के लगभग उसी अनुपात में रहती है।

कभी कभी ऐसा होता है कि किसी वस्तु की माँग कम रह जाने, या बाहर से उस वस्तु के बनाने वाले कुछ आदमियों के आ जाने या अन्य किसी कारण से, उस वस्तु के व्यवसाय में श्रमियों की संख्या का अनुपात इतना अधिक हो जाता है कि उसमें प्रति व्यक्ति धनोत्पत्ति का परिमाण कम होने लगता है। ऐसी दशा में यह आवश्यक हो जाता है कि कुछ श्रमी उसे छोड़ कर दूसरे अधिक उत्पादक व्यवसाय में लगें। अब यदि पहला व्यवसाय ऐसा है कि साधारण श्रम से होता है, तो उन श्रमियों को उसे छोड़ कर दूसरा साधारण श्रम वाला व्यवसाय करने में कुछ असुविधा नहीं होती। परन्तु यदि पहले व्यवसाय में कुशल श्रमी लगे हुए हैं, तो इनके लिये उसे छोड़ कर दूसरा कुशल श्रम करने वाला व्यवसाय करने में बहुत बाधा उपस्थित होती है, कारण, इस नये व्यवसाय के लिये उन्हें कुछ विशेष शिक्षा और योग्यता आदि की आवश्यकता होगी, जिसे प्राप्त करने में कुछ समय तथा व्यय लगेगा। यदि यह जान पड़े कि इस नवीन व्यवसाय में सुदीर्घ काल तक श्रमियों की माँग रहेगी, और उसमें उनके पुराने कार्य की अपेक्षा अधिक धनोत्पत्ति होगी, तो सम्भव है, कुछ आदमी इस नये व्यवसाय का अवलंबन करने के लिये प्रोत्साहित हों, हाँ, वे अपने बालकों को नये व्यवसाय के लिये तैयार करने का सहज ही विचार करने लगेंगे।

गतिशीलता सम्बन्धी अन्य बातें—स्थान-परिवर्तन और व्यवसाय-परिवर्तन से होने वाली श्रम की गतिशीलता एक साथ अर्थात् इकट्ठी भी हो सकती है, और पृथक् पृथक् भी।

उदाहरणवत् एक श्रमी को अपने व्यवसाय परिवर्तन के लिये अन्य स्थान में जाने की भी आवश्यकता हो सकती है, एवं उसी स्थान में भी उसका अवसर मिल सकता है।

एक दूसरे प्रकार की गतिशीलता यह है कि श्रमी अपने ही व्यवसाय में उत्तरोत्तर उन्नति करे। उदाहरणार्थ जो व्यक्ति पहले सब-ओवरसियर हो, वह पीछे ओवरसियर हो जाय, और पश्चात् क्रमशः उन्नति करते हुए एंजीनियर बन जाय। शिक्षित व्यक्ति ही ऐसी उन्नति करने में समर्थ हो सकते हैं, उन्हें एक व्यवसाय में उन्नति करने की सुविधा अधिक होती है।

अस्तु, अब इस बात का और विचार करलें कि गतिशीलता की दृष्टि से श्रम का, पूँजी तथा भूमि से क्या अन्तर है। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि श्रम घटाया बढ़ाया तो जा सकता है, परन्तु प्रायः बहुत मन्द गति से और कठिनाई से। पूँजी में भी कुछ ऐसी ही बात है। भूमि तो परिमित ही है, वह आवश्यकतानुसार बढ़ायी नहीं जा सकती; हां, यह हो सकता है कि उस के उपयोग में आने वाले कुछ भाग से काम न लेकर व्यावहारिक दृष्टि से उतने अंश में उसे घटा दिया जाय। पुनः पूँजी वाला पूँजी दूसरे व्यक्ति को दे देता है, और स्वयं स्वतंत्र रहता है, पर श्रम देने में तो श्रमजीवी को निर्धारित समय तक के लिये अपने आप को ही दूसरे के सुपुर्द करना होता है। अर्थात् पूँजी और पूँजीवाला दो पृथक् वस्तु हैं, परन्तु श्रम और श्रमजीवी एक दूसरे से पृथक् नहीं होते। भूमि, श्रम के विपरीत गतिशील नहीं है, स्थिर है, परन्तु वह अपने स्वामी से पृथक् वस्तु है, अतः ज़मींदार उसका अधिकार दूसरे व्यक्ति को देकर स्वयं स्वतंत्र रहता है। इस प्रकार श्रम इस बात में भूमि और पूँजी दोनों से भिन्न लक्षण वाला है। जब कोई आदमी अपना श्रम दूसरे को देना (बेचना) चाहता है तो उसे

यह विचार करना होता है कि जहाँ वह काम करेगा, उस स्थान की जलवायु और परिस्थिति कैसी है, उसके साथी काम करने वाले कैसे हैं, उससे काम लेने वाला व्यक्ति कैसा है, कारण कि इन बातों से उसके जीवन का सम्बन्ध है। अन्न, लकड़ी आदि अन्य पदार्थ बेचने वालों को ऐसी बातें सोचने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वे वस्तुएँ उनके बेचने वाले व्यक्ति से पृथक् हैं।

अन्य लक्षण—श्रम के गुण या योग्यता का विचार आगे किया जायगा। पर यहाँ श्रम का यह लक्षण उल्लेखनीय है कि श्रमी का गुण बहुत कुछ उसके माता पिता, या संरक्षक की प्रकृति, योग्यता, दूरदर्शिता तथा साधन-सम्पन्नता पर निर्भर है। जिन श्रमियों को उनके माता पिता योग्य नहीं बनाते उनके लिये स्वयं योग्यता प्राप्त करने की सुविधा तथा अवसर कम मिलता है। जो व्यक्ति (दूसरों के) श्रम की उपयोगिता बढ़ाने में सहायक होते हैं, उन्हें उसका यथेष्ट प्रतिफल नहीं मिलता। इस के विपरीत अन्य पदार्थों की उपयोगिता बढ़ाने वाले अपने कार्य का पूर्ण लाभ उठा सकते हैं।

यदि कोई श्रमी अपने श्रम को अधिक उपयोगी बनाने के लिये कुछ खर्च करता है, तो उसका वह रुपया सदैव के लिये उसमें लग जाता है। अन्य पदार्थों में लगा हुआ रुपया रहन या बिक्री आदि द्वारा इकट्ठा वसूल कर सकते हैं। श्रम में लगा हुआ रुपया इस प्रकार वसूल नहीं होता, वह धीरे धीरे मन्द गति से प्राप्त होता है।

सातवाँ अध्याय

जन-संख्या

—:*:—

धनोत्पत्ति में श्रम के भाग का उल्लेख पहले किया जा चुका है। यह स्पष्ट है कि उत्पत्ति के अन्य साधन समान रखने वाले दो देशों में धनोत्पादन का परिमाण उस देश में अधिक होगा, जिसमें श्रम अधिक है। श्रम की अधिकता दो बातों पर निर्भर है; श्रमियों अर्थात् जन-संख्या के अधिक होने, तथा उनके अधिक कुशल या योग्य होने पर। इसलिये श्रम में इन दोनों बातों का विचार किया जाना आवश्यक है। पहले जन-संख्या का विचार करते हैं।

जन-संख्या—प्राचीन काल में साधारणतया किसी देश की जन-संख्या अधिकतर वहाँ की जन्म-संख्या और मृत्यु-संख्या पर ही निर्भर रहती थी। पर, पीछे ज्यों ज्यों आमोदरफ़ के साधनों तथा लोगों के स्थानान्तर-गमन की वृद्धि हुई, जन-संख्या के कम ज्यादह होने में प्रवास आवास का भी प्रभाव पड़ने लग गया। किसी देश में जन-संख्या कितनी होनी चाहिये, उसके घटने का क्या परिणाम होगा, उसके बढ़ाने के लिये प्रोत्साहन देना कहाँ तक उपयुक्त है, खाद्य सामग्री की उत्पत्ति का विचार रखते हुए, जन-संख्या की वृद्धि कहाँ तक होनी चाहिये, और उससे अधिक वृद्धि होती हो तो उसे किस प्रकार रोका जाना उचित होगा, आदि, ये प्रश्न बहुत जटिल हैं। भिन्न भिन्न समय और देश काल में ही नहीं, बहुधा एक ही

समय और स्थिति में भी विद्वानों का इस सम्बन्ध में मत-भेद होता है। इन विषयों का यथेष्ट विचार करने के लिये तो स्वतंत्र ग्रन्थ ही चाहिये। अर्थशास्त्र में तो इन बातों की चर्चा वहीं तक करना उपयोगी होता है, जहाँ तक उनका आर्थिक विषयों से सम्बन्ध है।

मालथस के सिद्धान्त—आधुनिक काल में जन-संख्या के प्रश्न पर विचार करने वालों में सर्व प्रथम स्थान इंगलैंड के पादरी मालथस (१७६६-१८६४) का है। उसने बहुत अध्ययन और अनुसंधान करके अठारहवीं शताब्दी के अन्त में अपनी पुस्तक 'जन-संख्या के सिद्धान्त पर निबन्ध'* में तीन बातों की स्थापना की :—

(१) यदि कोई अन्य बाधा उपस्थित न हो, तो देश की जन-संख्या, वहाँ उत्पन्न होने वाले भोजन के परिमाण की अपेक्षा बहुत शीघ्र बढ़ जाती है। मालथस के अनुसार जन-संख्या ज्यामितिक वृद्धि के अनुसार बढ़ती है। उदाहरणवत् १, २, ४, ८, १६, ३२ और ६४ आदि, या १, ३, ९, २७, ८१, २४३, और ७२९ आदि के हिसाब से। उसके मत से खाद्य सामग्री के परिमाण की वृद्धि अंकगणित की वृद्धि के अनुसार बढ़ती है, यथा, १, २, ३, ४, ५ ६, ७ आदि, अथवा १, ३, ५, ७, ९, ११ और १३ आदि के हिसाब से। इसलिये एक समय ऐसा आता है जब किसी देश की संपूर्ण जनता के लिये खाद्य सामग्री कम होने लगती है और मृत्यु-संख्या बढ़ने लगती है, अन्त में उसकी जन-संख्या उस सामग्री के परिमाण के अनुसार परिमित हो जाती है।

(२) जन-संख्या-वृद्धि की प्रवृत्ति नैसर्गिक और प्रतिबन्धक इन दो प्रकार के उपायों द्वारा रोकी जाती है। नैसर्गिक उपाय

* Essay on the Principle of Population.

वे हैं जो प्रकृति की ओर से काम में लाये जाते हैं। इनके द्वारा बच्चों की बहुत अधिक मृत्यु होने लगती है, प्लेग, इन्फ्लुएंजा, चेचक, हैजा आदि महामारियों का कोप भयंकर रूप से हो जाता है, दुर्भिक्ष द्वारा अनेक प्राणियों का प्राण अपहरण किया जाता है, अथवा लोगों में युद्ध की प्रवृत्ति बढ़ जाती है, जिससे हजारों लाखों आदमी बे-मौत मर जाते हैं। प्रतिबन्धक उपायों का आशय उन उपायों से है, जिनसे जन्म-संख्या कम होती है, जैसे बड़ी उम्र में विवाह करना, संयम और ब्रह्मचर्य पूर्वक जीवन व्यतीत करना।

(३) जिन देशों में जन्म-संख्या कम रहती है, उनमें मृत्यु-संख्या भी कम रहती है। इसलिये मृत्यु संख्या कम करने का एक उत्तम उपाय जन्म-संख्या कम करना है। लोगों को जन्म-संख्या घटाने के प्रतिबन्धक उपाय काम में लाने चाहिये, जिससे सन्तान कम हो, और जन-संख्या-वृद्धि से होने वाले कष्ट न भोगने पड़ें। अगर यह न किया जायगा तो मृत्यु-संख्या बढ़ाने वाले नैसर्गिक उपाय—दुर्भिक्ष, महामारी और युद्ध आदि अपना घातक कार्य करेंगे।

मालथस के सिद्धान्तों की आलोचना—मालथस के विचारों पर इंगलैंड और आयर्लैंड की तत्कालीन जन-संख्या-वृद्धि का बड़ा प्रभाव पड़ा था। और, उसकी बातें विशेषतया उस समय की स्थिति के कारण लिखी गयी थीं। जिन घटनाओं का उसने निरीक्षण और अध्ययन किया, उन्हीं से उसने अपना निष्कर्ष निकाला जो उस देश काल के विचार से प्रायः ठीक ही था। परन्तु भिन्न भिन्न देशों की परिस्थिति पृथक् पृथक् होती है, तथा मालथस के बाद कुछ वैज्ञानिक और आर्थिक घटनायें ऐसी हो गयी हैं कि उनका प्रभाव बहुत कुछ विश्व-व्यापी हुआ है। जहाज़ों और रेलों के आविष्कार और प्रचार के कारण अब

परिस्थिति बहुत बदली हुई है। इस समय यातायात के साधनों की बहुत वृद्धि हो गयी है, नये नये यंत्रों से उत्पत्ति में सहायता ली जाती है, और औद्योगिक देश अन्य देशों से खाद्य सामग्री मंगा सकते हैं। इसलिये माल्थस के सिद्धान्तों में अब पूर्ववत सत्यता नहीं है, और निश्चय ही उसके सिद्धान्त सब देशों और सब समय के लिये ठीक नहीं है। तथापि उनमें सत्यता का अंश है, और वे बहुत विचारणीय हैं।

माल्थस के खंडन में निम्न लिखित आपत्तियाँ की गयी हैं:—

(१) उसने इस बात का तो विचार कर लिया कि कृषि में, अथवा खाद्य पदार्थों की उत्पत्ति में, क्रमागत ह्रास नियम लगता है, अर्थात् किसी निर्धारित क्षेत्र वाली भूमि में एक सीमा के बाद अधिक श्रम और पूंजी लगाने से उत्पत्ति की वृद्धि में अपेक्षाकृत कमी होती जाती है।* परन्तु उसने इस बात का लिहाज नहीं रखा कि इसके विपरीत खेती के उपायों में उन्नति करके, तथा श्रम को अधिक कुशल बना कर खाद्य पदार्थों की उत्पत्ति बढ़ायी जा सकती है। इसके अतिरिक्त उद्योग धन्धों में क्रमागत वृद्धि होती है, अर्थात् अधिक श्रम और पूंजी लगाने से एक सीमा तक अपेक्षाकृत अधिक उत्पत्ति होती है। और, उद्योग धंधों वाले देश अपने लिये आवश्यक खाद्य सामग्री अन्य देशों से मंगा सकते हैं। इस प्रकार माल्थस ने खाद्य पदार्थों की कमी की आशंका बहुत बढ़ा कर सूचित की, वास्तव में वह उतनी नहीं है।

(२) ज्यों ज्यों सभ्यता की वृद्धि होती जाती है, जन-संख्या की वृद्धि कम हो जाती है। मानसिक और नैतिक उन्नति के साथ मनुष्य कम सन्तान उत्पन्न करते हैं। अशिक्षित या असभ्य

---

* इस नियम पर विशेष विचार आगे किया जायगा।

आदमियों के मनोरंजन के साधन कम रहते हैं, वे सुन्दर दृश्य देखने, संगीत सुनने, समाचार पत्र या पुस्तकावलोकन आदि में रुचि नहीं रखते। अपने मनोविनोद के लिये वे मादक पदार्थों का सेवन करते तथा विषय भोग में प्रवृत्त होते हैं, और इस प्रकार अधिक सन्तानोत्पत्ति करके जन-संख्या की वृद्धि में सहायक होते हैं। सभ्य और शिक्षित समाज में ऐसा कम होता है।

(३) पहले बड़ा परिवार होना किसी के लिये बहुत गौरव की बात समझी जाती थी। अब लोगों के सामाजिक विचार बदल गये हैं, और क्रमशः बदलते जा रहे हैं। अनेक आदमी अब अपने परिवार की वृद्धि के पूर्ववत इच्छुक नहीं होते। पहले निम्न श्रेणी के मजदूरों के छोटे बालकों को धनोत्पादन के काम में लगा दिया जाता था, पर अब एक ओर तो कारखानों में छोटी उम्र के बालकों से काम लेने का कानून से निषेध हो रहा है, दूसरे अनेक स्थानों में शिक्षा के अनिवार्य किये जाने से बालकों को धनोत्पादन का अवसर नहीं मिलता। इस प्रकार परिवार को बालकों से धन प्राप्ति नहीं होती, इससे भी परिवार-वृद्धि की ओर साधारण श्रेणी के गृहस्थों की रुचि कम होती है।

इसके अतिरिक्त अब लोगों का रहन सहन का दर्जा ऊँचा होता जा रहा है। आदमी सोचते हैं कि जितना परिवार बढ़ेगा, उतना ही उक्त रहन-सहन का दर्जा बनाये रखना कठिन होगा। इस लिये वे अधिक सन्तान के अभिलाषी नहीं होते। बहुत से युवक युवतियाँ तो विवाह करने के अनिच्छुक ही रहते हैं। इंगलैंड फ्रांस, अमरीका आदि कुछ देशों में यह अनुभव किया गया है कि उनमें एक ओर तो वैज्ञानिक आविष्कारों तथा बड़े पैमाने की उत्पत्ति के कारण धन की खूब वृद्धि हो रही है, दूसरी ओर इनमें रहन सहन का दर्जा ऊँचा हो जाने से जन्म-संख्या कम हो रही है। निदान माल्थस के ग्रंथ के प्रकाशन के बाद

के वर्षों में, इन देशों में जन-संख्या वस्तुओं की उत्पत्ति के अनुपात से अधिक क्या, उसके समान भी नहीं बढ़ी है। इन धनी और उन्नतशील देशों के अनुभव से स्पष्ट है कि मालथस ने जनता की वृद्धि के अनुमान में अत्युक्ति की है। मालथस के समय में, अथवा उसके सामने प्रश्न यह था कि जन-संख्या, खाद्य सामग्री से जल्दी बढ़ती है या नहीं। अब प्रश्न का रूप यह हो गया है कि जन-संख्या धन की अपेक्षा, (जिसमें कृषि के अतिरिक्त उद्योग धन्धों से होने वाली उत्पत्ति भी सम्मिलित है) जल्दी बढ़ती है या नहीं, कारण, कि यदि समुचित सुविधाएँ प्राप्त हों, तो जन-संख्या धीरे धीरे बढ़ती है, और धन जल्दी बढ़ता है। हाँ, एक प्रश्न सामने यह भी है कि जन-संख्या का वितरण भिन्न भिन्न भागों में, उनकी धनोत्पत्ति की दृष्टि से ठीक है, या नहीं। ऐसा तो नहीं है, कि एक भाग में उत्पत्ति अधिक होने पर भी आदमी कम हैं, और दूसरे में उत्पत्ति कम होते हुए जन-संख्या अधिक है। इस सम्बन्ध में विचार आगे किया जायगा।

(४) उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध है कि जन-संख्या की वृद्धि ज्यामितिक वृद्धि के अनुसार और खाद्य सामग्री की वृद्धि अंक गणित की वृद्धि के अनुसार होने का, मालथस का सिद्धान्त भ्रमात्मक है ; वास्तव में ऐसा कोई, गणित के अनुपात में प्रकट किया जाने वाला, नियम निर्धारित नहीं किया जा सकता।

मालथस के सिद्धान्त में सत्यता का अंश—उपर्युक्त आलोचना के होते हुए भी, जैसा कि पहले कहा गया है, मालथस के सिद्धान्त में कुछ सत्यता अवश्य है, और उसकी अवहेलना नहीं की जा सकती :—

(१) धनी और उन्नत देशों में जन-संख्या की वृद्धि तो हुई है, पर वह धन-वृद्धि के अनुपात से अधिक नहीं हुई है। इस लिये

माल्थस का सिद्धान्त उन देशों में इस समय लागू नहीं होता, वहाँ अभी जनाधिक्य की आशंका नहीं है। तथापि इन देशों में जन-संख्या की वृद्धि को रोकने के नैसर्गिक तथा मनुष्य-कृत दोनों प्रकार के उपाय काम में आये हैं, और सभ्यता की वृद्धि के साथ साथ माल्थस के कथनानुसार प्रतिबन्धक उपायों का महत्व अधिकाधिक हो रहा है।

(२) भारत और चीन आदि निर्धन और प्राचीन देशों में प्रायः घनी बस्ती है, और कृषि-जन्य उत्पत्ति में क्रमागत ह्रास नियम लग रहा है। व्यवसाय धंधों को उत्पत्ति यहाँ कम है। अतः इन देशों में खाद्य सामग्री की अपेक्षा, जन-संख्या बढ़ने की प्रवृत्ति अधिक होती है। और, उसे रोकने के लिये दुर्भिक्ष महामारी आदि कठोर नैसर्गिक उपाय अपना प्रभाव दिखलाते हैं। इन देशों में जनाधिक्य की समस्या इस समय ही विद्यमान है। यहाँ रहन-सहन का दर्जा ऊँचा न होने से जन-संख्या को वृद्धि में उसके कारण होने वाली रुकावट का भी यहाँ प्रायः अभाव ही है।

(३) अनेक विद्वानों का मत है कि यद्यपि समस्त संसार की दृष्टि से, इस समय जनाधिक्य का प्रश्न विद्यमान नहीं है, तथापि वह भविष्य के लिये विचारणीय अवश्य है। इस समय तो यदि कुछ देशों में या उनके कुछ भागों में जन-संख्या, खाद्य पदार्थों की उत्पत्ति के अनुपात से अधिक है, तो बहुत से भू-भाग ऐसे भी हैं, जहाँ कृषि अथवा व्यवसाय जन्य पदार्थों की उत्पत्ति इतनी है कि उससे वहाँ की जनता के अतिरिक्त और भी जनता का निर्वाह हो सकता है। परन्तु समस्त संसार की दृष्टि से भी कभी न कभी ऐसा समय आये बिना नहीं रह सकता, जब जन-संख्या इतनी हो जायगी, जितनी का निर्वाह खाद्य पदार्थों द्वारा हो सकेगा। उसके बाद जन-संख्या की वृद्धि चिन्तनीय होगी।

उपर्युक्त कथन से जन-संख्या की समस्या जितने अधिक समय में उपस्थित होने की सम्भावना है, उसकी अपेक्षा व्यवहार में वह जल्दी ही सामने आयेगी,—कुछ स्थानों में तो आ ही गयी है। कारण, कि सारा संसार एक परिवार नहीं है, और निकट भविष्य में उसके ऐसा होने की सम्भावना भी नहीं है। इस समय भिन्न भिन्न देशों के आदमी अपने यहाँ अन्य देश वालों के आने में विविध प्रकार से बाधक है।

कुछ देशों में जहाँ भूमि अपेक्षाकृत नयी होने से कृषि में अभी क्रमागत ह्रास का नियम नहीं लग रहा है, या जहाँ व्यवसाय धन्धों से धनोत्पत्ति काफी हो रही है, वहाँ जन-संख्या वृद्धि की समस्या भले ही कुछ समय बाद उपस्थित हो, परन्तु जिन देशों की भूमि पुरानी है, जहाँ कृषि में नवीन आविष्कारों के प्रयोग के होते हुए भी क्रमागत ह्रास का नियम लग रहा है, जहाँ व्यवसाय धन्धों द्वारा धनोत्पत्ति काफी अधिक नहीं हो रही है, वहाँ तो अभी भी यह समस्या विद्यमान है, और मालथस के कथनानुसार यदि प्रतिबन्धक उपाय काम में न लाये जायँ तो जन-वृद्धि को रोकने वाले नैसर्गिक उपाय अवश्य ही अपना कार्य करेंगे।

भारतवर्ष की जन-संख्या ; आश्रम मर्यादा और मालथस का नियम—अब तनिक भारतवर्ष की जन-संख्या के सम्बन्ध में कुछ विशेष विचार करें। यहाँ उष्णता की प्रधानता अशिक्षा, और निर्धनता के अतिरिक्त, सामाजिक रीतियों, और धार्मिक विश्वासों से भी जन-संख्या की वृद्धि में सहायता मिलती है। प्रायः समस्त हिन्दू परिवारों में, विशेषतया कन्या का विवाह करना अनिवार्य माना जाता है। पुत्र-प्राप्ति धार्मिक कृत्य समझा जाता है। सर्व साधारण में यह विचार प्रचलित है कि 'अपुत्रस्य

गतिर्नास्ति'। सम्भवतः प्रारम्भ में इस प्रकार के विचारों के प्रचलित होने का कारण वह स्थिति होगी, जब नयी नयी भूमि में बस्ती होने लगी होगी, देश में जन-संख्या बहुत कम होगी, और उसे बढ़ाने की आवश्यकता, आर्थिक आदि कारणों से बहुत अधिक प्रतीत हुई होगी। अब वह बात नहीं रही, परन्तु समाज में किन्हीं विचारों के एक बार घर कर लेने के बाद उनका सहसा उन्मूलन नहीं होता। शिक्षा आदि के यथेष्ट प्रचार न होने कारण अधिकांश भारतवासी स्वतंत्र चिन्तन करके, देश काल के अनुसार प्राचीन प्रथाओं, रीतियों और विचारों में सम्यक् परिवर्तन नहीं करते और जन-संख्या-वृद्धि सम्बन्धी उपर्युक्त विचारों को अपनाये हुए हैं।

इसके अतिरिक्त, प्राचीन काल में, इस सम्बन्ध में जो मर्यादाएँ थीं, वे भी अब नहीं रहीं। पहले ऐसी व्यवस्था थी कि पुरुष पच्चीस वर्ष तक और कन्याएँ सोलह वर्ष तक ब्रह्मचर्य आश्रम में रहें, और विद्याध्ययन करें, शारीरिक, मानसिक और नैतिक योग्यता प्राप्त करें, अपनी आजीविका प्राप्त करने और घर गृहस्थी चलाने योग्य बन जायँ, तब जाकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करें। फिर, गृहस्थाश्रम भी चार आश्रमों में से एक था, अर्थात् इसकी अवधि आयु के चतुर्थ भाग—पच्चीस वर्ष की ही थी। इसके बाद सन्तानोत्पत्ति बन्द हो जाती थी। गृहस्थाश्रम समाप्त करने पर जीवन आत्मोन्नति तथा परोपकार में लगाया जाता था। विगत शताब्दियों में उपर्युक्त बातों का विचार न रहा। विविध कारणों से, जिनके वर्णन करने की यहाँ आवश्यकता नहीं, इस देश में बाल विवाह प्रचलित हो गया, छोटे छोटे बच्चे-बच्चियों के विवाह होने लगे। वानप्रस्थ और सन्यास आश्रम केवल धर्म-ग्रन्थों में रह गये, व्यवहार में लोगों ने इसकी प्रायः पूर्णतया विस्मृति कर दी। विवाह होने के बाद मनुष्य

आजीवन गृहस्थाश्रम में रहने लगे। पुरुष की एक स्त्री मर जाने पर दूसरा, तीसरा, और कुछ दशाओं में इसके बाद भी विवाह होने लगा। हाँ, उच्च कही जाने वाली जातियों में विधवा स्त्रियों के पुनर्विवाह की प्रथा नहीं रही, वे बल-पूर्वक ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत करने के लिये बाध्य की जाने लगीं। अस्तु, परिणाम यह हुआ कि एक ओर तो अनेक छोटी उम्र के लड़के लड़कियों के सन्तान होने लगी, दूसरी ओर कितने ही बूढ़े आदमियों के बे-मेल विवाहों से जन-संख्या की वृद्धि हुई। इन नव-जात शिशुओं का दुर्बल, रोगी, और अल्पायु होना स्वाभाविक ही था। अब कुछ समय से इसमें क्रमशः सुधार हो रहा है। ब्रिटिश भारत में तथा कुछ देशी राज्यों में बाल-विवाह निषेधक क़ानून बन गये हैं, समाज-सुधारक भी इस दिशा में यथा-शक्ति आन्दोलन कर रहे हैं। हाँ, और भी बहुत कुछ कार्य होने की गुंजायश है। शिक्षा के प्रचार, आर्थिक संघर्ष, कुछ लोगों के रहन-सहन का दर्जा ऊँचा होने, स्वच्छन्द जीवन बिताने की इच्छा आदि से भी जन-संख्या की वृद्धि पर कुछ रुकावट होने लगी है। तथापि वर्तमान अवस्था में यहाँ जनाधिक्य की समस्या थोड़ी बहुत विद्यमान है। विविध कारणों से यहाँ के निवासियों को विदेशों में जाकर रहने की भी सुविधाएँ नहीं हैं। फलतः यहाँ जन-संख्या की वृद्धि में मालथस का सिद्धान्त कुछ कुछ लागू हो रहा है, उसे रोकने के लिये नैसर्गिक उपाय—दुर्भिक्ष महामारी आदि का भयंकर कोप बना रहता है।

जन-संख्या की वृद्धि ; प्राकृतिक वृद्धि—जैसा कि पहले कहा जा चुका है, जन-संख्या की वृद्धि दो बातों पर निर्भर होती है :—(१) जन्म-संख्या का मृत्यु-संख्या की अपेक्षा अधिक होना, और (२) आवास का प्रवास की अपेक्षा अधिक

होना। प्रायः यह अनुभव में आया है कि जिन देशों में जन्म-संख्या का अनुपात अधिक होता है, वहाँ मृत्यु संख्या का अनुपात भी अपेक्षाकृत अधिक रहता है। प्रायः गर्म देशों में विवाह कम् उम्र में होते हैं। इनमें जनन-शक्ति का ह्रास, सर्द देशों की अपेक्षा कम उम्र में हो जाता है, अर्थात् इनके पुरुष स्त्रियों के, अपेक्षाकृत कम उम्र में बच्चे होने बन्द हो जाते हैं। तथापि कुल मिला कर गर्म देशों में जन्म संख्या अधिक ही होती है। बहुधा इन देशों की धार्मिक सामाजिक बातें भी इसमें सहायक होती हैं। इसी प्रकार जो देश कृषि प्रधान हैं, जहाँ आर्थिक उन्नति कम हुई है अशिक्षा और दरिद्रता अधिक है, लोगों का रहन-सहन का दर्जा नीचा है, उनमें जन्म-संख्या अधिक होती है, और उसके साथ ही नैसर्गिक उपायों द्वारा मृत्यु-संख्या भी अधिक होती है। इसके विपरीत जो भू-भाग शीत-प्रधान होते हैं, वहाँ प्रायः विवाह बड़ी उम्र में होते हैं और यद्यपि इनमें जनन-शक्ति गर्म देशों को अपेक्षा अधिक उम्र तक रहती है, कुल मिला कर वहाँ जन्म-संख्या भी गर्म देशों की अपेक्षा कम होती है। इसी तरह धनी, सभ्य, व्यवसायिक, ऊँचे दर्जे के रहन-सहन वाले आदमियों में जन्म-संख्या कम रहती है तो नैसर्गिक उपायों द्वारा मृत्यु-संख्या भी कम ही रहती है। इन्हें स्वास्थ्य चिकित्सा आदि के साधन अधिक उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार इनमें कुल मिला कर जन संख्या की वृद्धि, अन्य देशों की अपेक्षा अधिक ही होती है। उदाहरणावत् इंगलैंड में भारत-वर्ष को अपेक्षा प्रति सहस्र जन्म-संख्या कम है, परन्तु मृत्यु-संख्या का अनुपात यहाँ की अपेक्षा और भी कम होने से, वहाँ जन-संख्या की वृद्धि की औसत यहाँ से अधिक है। इससे हम एक बहुत शिक्षाप्रद निष्कर्ष पर पहुँचते हैं—यदि जन्म-संख्या कम करने के प्रयत्न किये जायँ, तो मृत्यु-संख्या में स्वयं कमी होजाय; और, इससे माताओं का कष्ट और राष्ट्रीय आय का

अपव्यय बहुत घट सकता है। जन्म-संख्या कम करने के विषय में विशेष आगे लिखा जायगा।

जन-संख्या और राजनैतिक स्थिति—यद्यपि इस ओर बहुत कम ध्यान दिया जाता है, तथापि अर्थशास्त्र को अध्ययन करने वालों के लिये यह प्रश्न काफ़ी विचारणीय है कि देश की राजनैतिक स्थिति का जन-संख्या पर क्या तथा किस प्रकार प्रभाव पड़ता है। यह तो स्पष्ट ही है कि अधिकतर स्वाधीन देशों में शिक्षा, सभ्यता आदि का अधिक प्रचार होता है, आजीविका के लिये वहाँ विविध साधन होते हैं, लोगों की आर्थिक अवस्था अच्छी होती है, रहन-सहन का दर्जा ऊँचा होता है। इन बातों के फल-स्वरूप इन देशों में जन्म-संख्या का अनुपात पराधीन देशों की अपेक्षा कम रहता है, साथ ही मृत्यु-संख्या का अनुपात भी कम रहता है। इस प्रकार इन की जन-संख्या में पराधीन देशों की अपेक्षा अधिक वृद्धि होती है। इसके अतिरिक्त जब सरकार को आवश्यकता प्रतीत हो, वह जन-संख्या की वृद्धि के लिये विविध प्रोत्साहन देने के वास्ते क़ानून बना सकती है। उसे कम से कम वर्तमान स्थिति में प्रायः यह चिन्ता नहीं होती कि इस बढ़ी हुई जनता का निर्वाह कैसे होगा। उसके पास इसके लिये पर्याप्त साधन होते हैं। हाँ, यदि सरकार यह समझे कि राष्ट्र-हित की दृष्टि से जन-संख्या की वृद्धि वांछनीय नहीं है, तो वह राजकीय नियमों तथा विविध करों आदि के द्वारा सन्तानोत्पत्ति के लिये लोगों को निरुत्साहित कर सकती है, उन्हें उससे अंशतः रोक सकती है।

अब, पराधीन देश की बात लीजिये, यहाँ प्रायः जनता कम शिक्षित, कम सभ्य, कम धनी होती है और अधिकतर आदमियों का रहन-सहन नीचे दर्जे का रहता है। फल-स्वरूप यहाँ जन्म-संख्या बहुत अधिक होती है, और इस लिये यहाँ मृत्यु-संख्या

भी बहुत होती है—इतनी अधिक होती है कि कुल मिला कर जन-संख्या वृद्धि का अनुपात स्वाधीन देशों की अपेक्षा कम रहता है। फिर, इन देशों में स्वास्थ्य और चिकित्सा की व्यवस्था भी कम रहने से उस से उपर्युक्त बात को ही सहारा मिलता है। पराधीन देशों की स्थिति में उस समय कुछ अन्तर अवश्य उपस्थित होता है, जब उनमें स्वतंत्रता-प्राप्ति का आन्दोलन जोरों पर हो, और आन्दोलन सुदीर्घ काल तक चले। उस समय अनेक पुरुष ही नहीं, कितनी ही महिलाएँ भी अपना समय और शक्ति प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से, एक मात्र राष्ट्रीय कार्य-क्रम में लगा देती हैं; सन्तानोत्पत्ति के लिये उस समय विचार या सुविधाओं की गुंजायश नहीं होती। फिर एक वाता-वरण बन जाता है कि दासताकाल में सन्तान पैदा करना उचित नहीं है। इससे जन्म-संख्या कम होती है, और इस कमी के परिणाम-स्वरूप मृत्यु-संख्या में विशेष कमी नहीं होती। वह तो पूर्ववत् सी ही रहती है। इसके अतिरिक्त बहुत से आदमी युद्ध क्षेत्र में, या सरकार के दमन द्वारा अपने प्राणों की आहुति चढ़ाते हैं। निदान, स्वतंत्रता-प्राप्ति के आन्दोलन में भी, पराधीन देशों में जन-संख्या की वृद्धि कम होती है; हाँ, इस का ढंग, कुछ विशेष प्रकार का होता है।

प्रतिबन्धक उपाय—जन-संख्या की वृद्धि को रोकने के लिये प्रतिबन्धक उपायों के प्रयोग का पहले उल्लेख किया गया है। आज कल विविध देशों में बाल विवाह के विरुद्ध लोक मत बढ़ता जा रहा है। कई देशों में इनको रोकने के लिये क़ानून बन गये हैं। अब विवाह की उम्र क्रमशः अधिक होती जाती है। तथापि अधिकांश मनुष्यों में प्रायः सर्वत्र सन्तान की लालसा होती है। विशेषतया स्त्रियाँ तो सन्तान-सुख के लिये बहुत ही इच्छुक रहती हैं। भारतवर्ष में कुछ धनी लोग इसके लिये

एक के बाद दूसरा, कई विवाह करते हैं, तथा इस हेतु बहुत सा दान धर्म भी करते हैं। परन्तु योरप अमरीका के धनी वर्ग में रहन-सहन का दर्जा ऊँचा होने तथा स्वच्छन्द जीवन बिताने की इच्छा के कारण, सन्तान यथा-सम्भव कम पैदा करने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। यह लहर अन्य देशों में भी आ रही है। भारतवर्ष में विशेषतया जनता की निर्धनता के विचार को लक्ष्य में रख कर इस बात का प्रचार किया जा रहा है कि यहाँ जन-संख्या कम होनी चाहिये।

अन्य देशों में जहाँ सन्तान निग्रह के कृत्रिम उपायों को स्वतन्त्रता-पूर्वक काम में लाया जाता है, भारतवर्ष में संयम और ब्रह्मचर्य पर ही ज़ोर दिया जाता है। यों तो यहाँ भी कुछ व्यक्ति सार्वजनिक हित के नाम पर यह उपदेश करते हैं कि संयम और ब्रह्मचर्य सर्वसाधारण के लिये विशेष व्यावहारिक या स्वाभाविक नहीं है, यह तो बहुत उच्च विचार वालों के ही लिये है, साधारण परिस्थिति के लोगों को कृत्रिम उपायों से सन्तान-निग्रह करना चाहिये। तथापि अधिकांश जन-समाज इन बातों को भयंकर आशंका और घृणा की दृष्टि से देखता है। स्मरण रहे कि कृत्रिम उपायों द्वारा सन्तान-निग्रह करने की बात माल्थस ने नहीं उठायी थी; यह उसके पीछे की है, माल्थस ने तो संयम और ब्रह्मचर्य की ओर ही जनता का ध्यान दिलाया था।

कुछ प्रतिबन्धक उपाय ऐसे भी हैं, जिनका राज्यों की ओर से अवलम्बन किया जाना उचित समझा जाता है। जिन आदमियों को कोई ऐसी शारीरिक या मानसिक व्याधि हो जो उनकी सन्तान में आने की आशंका हो, या जिन व्यक्तियों के सम्बन्ध में यह ज्ञात हो कि उनकी सन्तान अत्यन्त दुर्बल तथा रोगी या पागल होगी, उन्हें सन्तान पैदा न करने दिया जाय

तो समाज उस आर्थिक तथा नैतिक हानि से बच सकता है, जो उक्त सन्तान होने की दशा में उसे उठानी पड़े। यदि उक्त विकार-ग्रस्त व्यक्ति स्वयं ही विवाह करने या सन्तान पैदा करने से रुके रहें तब तो बहुत ही उत्तम हो; परन्तु प्रायः ऐसे आदमियों से इस बात को आशा नहीं की जा सकती। अतः कहीं कहीं राज्य द्वारा उन्हें सन्तानोत्पत्ति से रोका जाने का मार्ग काम में लाया जाता है। कुछ समय हुआ जर्मनी में, बहुत से आदमियों की डाक्टरी परीक्षा करके देखा गया था, उनमें से जो व्यक्ति उपर्युक्त दृष्टि से सु-सन्तान उत्पन्न करने के अयोग्य पाये गये, उन्हें नपुंसक कर दिया गया था।

यह एक विशेष दशा सम्बन्धी विचार है। कुछ विद्वानों का मत है कि योरप अमेरीका में जन-संख्या की वृद्धि को रोकने के लिये जो प्रतिबन्धक उपाय साधारणतया काम में लाये जाते हैं, वे चरम सीमा को पहुँच गये हैं। उनसे समाज को नीचे लिखे अनुसार हानि पहुँचती है:—(क) जनता का आर्थिक और शारीरिक दृष्टि से ह्रास होता है, और (ख) जन-संख्या की कमी होती है।

(क) धनवान लोग बड़ी उम्र में विवाह करते हैं, उनके बच्चे कम होते हैं, और उनका लालन पालन इस तरह किया जाता है कि वे बहुत सुकुमार रहते हैं, उनमें साहस तथा धनोत्पत्ति की योग्यता कम होती है। धनवानों के कम सन्तान होने से देश की कुल जन-संख्या में शिक्षा और अन्य साधन युक्त जनता के अनुपात में कमी हो जाती है।

(ख) जन-संख्या की कमी का राजनैतिक और सैनिक दृष्टि से जो परिणाम होता है, वह बड़ा गम्भीर है। कितने ही देशों को यह भय लगा हुआ है कि यदि हमारी संख्या कम होगी, रणक्षेत्र के लिये हमारे सैनिक तथा युद्ध-सामग्री पर्याप्त न होगी

तो सम्भव है कि दूसरे राज्य हमें हड़प करने की चेष्टा करने लगें। इस आशंका के कारण कितने ही राज्य अपने यहाँ जन-संख्या की वृद्धि के लिये विविध प्रोत्साहन देते हैं।

आवास प्रवास—किसी देश की जन-संख्या वृद्धि वहाँ की जन्म-संख्या की, मृत्यु-संख्या से अधिकता के अतिरिक्त इस बात पर भी निर्भर है कि वहाँ से बाहर जाकर बसने वाले आदमियों की अपेक्षा दूसरे देशों से वहाँ आकर निवास करने वालों की संख्या अधिक हो। प्रवास दो प्रकार का होता है, अस्थायी और स्थायी। प्रत्येक व्यक्ति को अपने घर, कुटुम्ब, नगर, तथा देश के प्रति इतना प्रेम होता है कि वह सहसा उसे छोड़ कर अन्यत्र जाना पसन्द नहीं करता। तथापि जब वह अपने स्थान पर खाने के यथेष्ट साधन नहीं पाता तो अपनी आर्थिक आवश्यकताओं से विवश होकर वह बाहर जाता ही है। कभी कभी स्वदेश-प्रेम ही उसे बाहर जाने की प्रेरणा करता है। कुछ आदमी सोचते हैं कि हम बाहर जाकर अपने धर्म का प्रचार करेंगे, अथवा दूसरे देश की भूमि विजय करके अपने राज्य में मिलायेंगे, तो इससे हमारे देश का गौरव बढ़ेगा। इस प्रकार के लोग धार्मिक या राजनैतिक कारणों से भी बाहर जाते हैं। आरम्भ में उनका विचार प्रायः यही होता है कि कुछ समय बाद स्वदेश को लौट आवेंगे। परन्तु इनमें से कुछ को बाहर रहने में असुविधाएँ नहीं रहतीं, ये अपने आप को नये वातावरण के अनुकूल बना लेते हैं, अथवा यह समझने लगते हैं कि स्थायी रूप से ही बाहर रहने पर उनकी अभीष्ट-सिद्धि होगी। बस, ये अपनी जन्म-भूमि को छोड़ कर, नये भू-भाग की जन-संख्या बढ़ाने में सहायक होते हैं।

प्राचीन काल में आमोदरफ़्त के साधन कम थे, मार्ग में बहुत असुविधाएँ और सङ्कट मिलते थे। उस समय बहुत कम

आदमी अपने देश से बाहर आते जाते थे; सामाजिक बाधाएँ भी विशेष रूप से विद्यमान थीं। कितनी ही जातियों ने अपने आदमियों को विदेश यात्रा को निषिद्ध कर रखा था। तथापि यात्रा होती ही थी। भारतवासियों ने दूर दूर के भू-भागों में अपने उपनिवेश बसाये थे। यूनान और रोम आदि के प्राचीन उपनिवेश भी इतिहास-प्रसिद्ध हैं।

आधुनिक काल में अधिकांश स्थानों के मार्ग पहले की तरह भयानक नहीं रहे हैं, अनेक जंगल साफ कर दिये गये हैं, इससे जंगली जानवरों का उतना भय नहीं रहा है। थोड़ी थोड़ी दूर पर बस्तियाँ बस जाने से मार्ग में खाने पीने के सामान के दुर्लभ होने की आशंका भी नहीं रही है। फिर रेल, मोटर जहाजों और वायुयानों आदि की वृद्धि के कारण भी यात्रा बहुत सुगम हो गयी है।

अब तो प्रत्येक देश में बाहर के निवासियों की खासी संख्या है। हाँ, बाहर वालों में बहुत से ऐसे भी हैं, जो अस्थायी रूप से आये हुए होते हैं। अनेक नगरों में कितने ही आदमी दिन में काम करने आते हैं, पश्चात् रात्रि में अपने अपने गाँव लौट जाते हैं। कितने ही किसान अपनी बेकारी का समय काटने को नगरों में आते हैं। तथापि कितने ही भू-भाग ऐसे हैं, जिनमें उनके मूल निवासी बहुत कम हैं, और जो बाहर से आकर बसने वालों के उपनिवेश हैं। नयी बस्ती बसाने वालों ने पहले बाहर के आदमियों को विविध सुविधाएँ देकर अपने उपनिवेशों में बुलाया और बसाया, कारण उस समय उन्हें धनोत्पत्ति के लिये अपनी संख्या अत्यल्प मालूम होती थी। अथवा, इन उपनिवेशों में जो आदमी अपने तौर से रहने के लिये गये, उनके विषय में उपनिवेश वालों ने कोई आपत्ति नहीं की। इस प्रकार, संयुक्त राज्य अमरीका की जन-संख्या वृद्धि का प्रधान कारण यह है कि यहाँ योरप के

विविध भागों से आकर बहुत से आदमी बसे हुए हैं। केनिया (दक्षिण अफ्रीका) अंगरेज़ों का उपनिवेश है, परन्तु वहाँ भारतीयों की संख्या काफी अधिक है। परन्तु अब प्रत्येक उपनिवेश वाले अपने यहाँ बाहर के आदमियों के आने में, विशेषतया उनके आकर बसने में विविध बाधाएँ उपस्थित कर रहे हैं। जगह जगह वर्ण-विद्वेष की बातें हैं, कहीं कहीं सांस्कृतिक भेद का प्रश्न उठाया जाता है। इससे पराधीन देश वालों की तो अब उनमें गुज़र हो नहीं होने पाती, वे केवल कुलीगीरी या निम्न प्रकार का श्रम करके कुछ समय तक रह सकते हैं, स्थायी रूप से नहीं। स्वाधीन देश वालों तथा सजातीयों का भी मार्ग प्रशस्त नहीं रहा है, धीरे धीरे उनका भी वहिष्कार किये जाने की नौबत आ रही है, कहीं कहीं तो प्रत्यक्ष रूप से वहिष्कार आरम्भ भी हो चुका है। इस सब व्यवहार का बहुत कुछ कारण आर्थिक है। प्रत्येक देश के रहने वाले चाहते हैं कि उस देश में उनके ही वंशजों के सुख-पूर्वक रहने की गुंजायश रहनी चाहिये, जिनकी संख्या उत्तरोत्तर बढ़ेगी। अगर बाहर के आदमियों को वहाँ स्थायी रूप से निवास करने की अनुमति दी जाय तो चाहे अभी कुछ कठिनाई न हो, तथापि भविष्य में उनके कारण वह समय निकट आ जायगा, जब जन संख्या की वृद्धि इतनी अधिक होगी कि उस अनुपात में धनोत्पत्ति न हो सकेगी, और लोगों के रहन-सहन का दर्ज़ा नीचे गिरने की आशंका होगी। इस भय को यथा-सम्भव दूर हटाने के निमित्त विविध देश अभी से बाहर वालों के प्रवेश का निषेध करते हैं।

जन-संख्या का आर्थिक आदर्श—अब यह विचारणीय है कि भिन्न भिन्न देशों में आर्थिक दृष्टि से कितनी जन-संख्या होनी चाहिये। क्योंकि भिन्न भिन्न वैज्ञानिक आविष्कारों आदि के कारण किसी देश की उत्पत्ति की मात्रा बढ़ती रह सकती

है, अथवा विकराल भूकम्प या जल प्रवाह आदि से घट भी सकती है, अतः सदैव के लिये तो यह निश्चय नहीं किया जा सकता कि अमुक देश में इतनी ही जन-संख्या हो, तथापि स्थूल रूप से यह कहा जा सकता है, कि निर्धारित समय या परिस्थिति में किसी देश की जन-संख्या इतनी होनी चाहिये, जिसके द्वारा प्रति व्यक्ति धनोत्पत्ति या आय उस समय अधिक से अधिक हो, यदि जन-संख्या उससे कम या अधिक हो तो प्रति व्यक्ति उत्पत्ति का अनुपात घट जाय। इसका अभिप्राय यह है कि जिस सीमा तक यह बात हो कि जन-संख्या बढ़ने से प्रति व्यक्ति धनोत्पत्ति का परिमाण बढ़ेगा, उस सीमा तक ही जन-संख्या बढ़ने देना उचित है। नये उपनिवेशों में, अथवा धनोत्पत्ति की विधि में उन्नति करने वाले देशों में जन-संख्या बढ़ना अनुचित नहीं है। परन्तु जब जन-संख्या इतनी हो जाय कि लोगों की आर्थिक अवस्था खराब होने लगे तो उस समय इस बात का पूर्ण प्रयत्न किया जाना चाहिये कि विविध उपायों द्वारा धनोत्पत्ति में वृद्धि की जाय, और जन-संख्या की वृद्धि रोकी जाय, और क्योंकि जन-संख्या की वृद्धि का एक साथ रोका जाना उचित नहीं है, अतः इस बात का पहले से ही विचार रहना चाहिये।

जन-संख्या की अनुचित वृद्धि को रोकने के विविध उपाय हैं:—

(१) जनता में यह प्रचार किया जाय कि रहन-सहन का दर्जा ऊँचा करें। आदमी अच्छे मकान और उत्तम भोजन वस्त्रों का उपयोग करें, और अपनी सन्तान के लिये भी इन चीज़ों का उत्तम प्रबन्ध करें। पहले कहा जा चुका है कि रहन-सहन का दर्जा ऊँचा रखने वालों में सन्तानोत्पत्ति की इच्छा अपेक्षाकृत कम होती है। इसके विपरीत, जिन लोगों की आवश्यकताएँ कम

होती हैं या थोड़े से श्रम से पूरी हो जाती है, उनमें यद्यपि कुछ व्यक्ति बहुत संयमी भी होते हैं, साधारणतया सन्तानोत्पत्ति अधिक ही होती है।

(२) बालक बालिकाओं की उच्च शिक्षा का प्रबन्ध किया जाय, जिससे बड़े होने पर वे अपने उत्तरदायित्व को पहिचानें, दूरदर्शी बनें और सन्तानोत्पत्ति की इच्छा का उदय होने पर आगे पीछे की परिस्थिति का सम्यक् विचार करके उसका यथा-सम्भव दमन करें ; और कई कई अयोग्य सन्तान की अपेक्षा एक एक दो दो सुयोग्य सन्तान पैदा करने का ही विचार रखें।

(३) बालक बालिकाओं को सदाचार और संयम की शिक्षा दी जाय, तथा विवाह की उम्र बढ़ायी जाय, और एक निर्धारित आयु के बाद किये जाने वाले विवाहों का (कुछ विशेष अपवादों को छोड़ कर) निषेध किया जाय। इस सम्बन्ध में हिन्दुओं की आश्रम व्यवस्था बहुत अनुकरणीय है, जिसके अनुसार प्राचीन काल में जब कि मनुष्यों की आयु प्रायः सौ साल की होती थी, पचास वर्ष के उपरान्त गृहस्थाश्रम से छुट्टी ले ली जाती थी और फलतः सन्तानोत्पत्ति बन्द कर दी जाती थी। खेद है कि अब तो अधिकांश हिन्दू भी वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम का पालन नहीं करते ; अस्तु, उक्त तत्व की बात का बहुत प्रचार किये जाने की आवश्यकता है।

(४) निर्बल, दरिद्र, वंशानुगत रोगी, पागल या ऐसे शारीरिक या मानसिक विकार वाले व्यक्तियों के विवाह का निषेध होना चाहिये, जिनकी संतान सुदृढ़ और सुयोग्य होने की सम्भावना न हो।

(५) बाहर के उन्हीं आदमियों को, तथा उसी दशा में आकर बसने की अनुमति दी जानी चाहिये, जब वे देश की धन-वृद्धि

में सहायक हों, अर्थात् उनकी शारीरिक या मानसिक योग्यता से देश की उत्पत्ति, प्रति व्यक्ति, बढ़ने की आशा हो।

इन उपायों का अवलम्बन करने से जन-संख्या सम्बन्धी उस आर्थिक आदर्श की प्राप्ति होने में सुविधा होगी, जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है।

आठवाँ अध्याय

श्रम की कुशलता

—: * :—

पिछले अध्याय में जन संख्या के सम्बन्ध में लिखा जा चुका है। रण-क्षेत्र में सैनिकों की केवल विशाल संख्या से ही काम नहीं चलता, उनकी योग्यता, वीरता और पुरुषार्थ आदि भी विचारणीय होता है। राष्ट्रों के आर्थिक जीवन-संग्राम में भी यही बात है। धनोत्पत्ति की दृष्टि से श्रम का परिमाण दो बातों पर निर्भर है, जन-संख्या और उसकी कार्य कुशलता या निपुणता पर। जन-संख्या का विचार किया जा चुका; अब श्रम की कुशलता का विचार करते हैं।

साधारण और कुशल श्रम—पहले साधारण और कुशल श्रम का भेद जान लेना चाहिये। जिस श्रम से ऐसा कार्य होता है, जिस के करने के लिये विशेष शिक्षा या अभ्यास आदि की आवश्यकता नहीं होती, उसे साधारण श्रम कहते हैं। इसके विपरीत, जिस श्रम से ऐसा कार्य किया जाता है, जिसके करने में कुछ विशेष योग्यता आदि की आवश्यकता होती है, वह कुशल श्रम कहा जाता है। स्मरण रहे कि 'साधारण' और 'कुशल'

शब्द सापेक्षिक हैं। इनका कोई खास निर्धारित अर्थ नहीं है, देश काल के भेद से कुशल श्रम को साधारण, और साधारण को कुशल कहा जा सकता है। बड़े बड़े नगरों में मामूली पढ़ा लिखा आदमी, या मिल कारखाने के काम करने वाला मज़दूर साधारण श्रमी कहा जाता है, देहातों में उसे कुशल श्रमजीवी कहा जायगा। भारतवर्ष में मोटर चलाना कुशल श्रम का उदाहरण समझा जाता है, पर अनेक पाश्चात्य देशों की दृष्टि से यह साधारण श्रम ही है।

श्रम की कुशलता के आधार—भिन्न भिन्न देशों के नहीं, एक ही देश, वरन् एक ही स्थान तथा जाति के श्रमियों की कार्य-कुशलता में बहुधा बहुत अधिक अन्तर होता है। कोई अधिक कुशल होता है, कोई कम। कार्य-कुशलता श्रमियों के विविध-गुणों शारीरिक स्वास्थ्य तथा मानसिक और नैतिक योग्यता के अनुसार होती हैं। हमें यह देखना है कि इन में किन किन बातों से सहायता मिलती है। विदित हो कि यह विषय बहुत महान् तथा जटिल है। अनेक बातों के सम्बन्ध में सुनिश्चित नियम निर्धारित नहीं किये जा सकते, अथवा यों कहा जा सकता है, कि कितने ही नियमों में अपवाद भी बहुत हैं। अस्तु, यहाँ कुछ मोटी मोटी बातों का, और वह भी संक्षेप में ही विचार किया जा सकता है।

जलवायु—जलवायु का धनोत्पत्ति पर क्या प्रभाव पड़ता है, यह पहले बताया जा चुका है। कार्य-कुशलता से भी जल-वायु का सम्बन्ध है। साधारणतया यह माना जाता है कि अधिक गर्मी या अधिक सर्दी में कार्य कम होता है, कार्य कुशलता की दृष्टि से समशीतोष्ण जल-वायु ही उत्तम है। प्रायः पाश्चात्य लेखकों का कथन है कि गर्म जलवायु में शारिरिक, मानसिक

तथा नैतिक गुणों का ह्रास हो जाता है, और उसके फल-स्वरूप कार्य-क्षमता घट जाती है। परन्तु यह कोई अकाट्य बात नहीं है। कितने ही गर्म देशों के आदमी इतना सफल तथा अधिक समय काम करते हैं कि सर्द या समशीतोष्ण जल-वायु के आदमी नहीं कर सकते। बात यह है कि कोई व्यक्ति कितना काम कर सकता है, यह बहुत कुछ उसके स्वभाव, अभ्यास या वातावरण पर निर्भर रहता है। गर्म देश के अनेक आदमी गर्मी में भी वैसा ही काम कर सकते हैं, जैसे सर्द देश के आदमी सर्दी में। एक हलवाई गर्मी की मौसम में घंटों भट्टी के पास बैठकर काम करता रहता है, जब कि उसकी दुकान पर आने वाले ग्राहक कुछ मिनटों में ही वहाँ की गर्मी से परेशान हो जाते हैं।

अस्तु, अब हम यह विचार करते हैं कि नगर तथा ग्राम की जलवायु का कार्य-कुशलता से क्या सम्बन्ध है। यद्यपि नगरों में स्वास्थ्य और सफाई आदि का बहुत ध्यान रखा जाता है, और उसके लिये बहुधा बहु-व्यय-साध्य प्रबन्ध किया है, तथापि प्रायः उनकी जल-वायु ग्रामों की अपेक्षा अच्छी नहीं होती। हाँ, 'ग्राम' शब्द से भारतीय पाठकों के सामने जो चित्र उपस्थित होता है, वह प्रायः कुछ आकर्षक नहीं होता, क्योंकि भारतीय ग्रामों की दशा बड़ी शोचनीय है, अधिकतर स्थानों में मकान तंग और छोटे छोटे हैं, जिनमें हवा के लिये खिड़कियाँ आदि नहीं होतीं। बस्ती के पास ही कूड़ा कचरा पड़ा रहता है। गन्दे पानी के बहने के लिये नालियों की व्यवस्था नहीं होती, उसका बहुत सा अंश घरों के पास ही सड़ा करता है, ऐसे कारणों से भारतीय ग्रामों की जल-वायु उतनी अच्छी नहीं है, जितनी होनी चाहिये। फिर भी, बड़े बड़े नगरों में रहने वाले अनेक सम्पन्न व्यक्ति प्रायः प्रति वर्ष अपना कुछ समय निश्चित रूप से देहातों में व्यतीत करते हैं, अथवा कम से कम ऐसा करने के इच्छुक रहते हैं, कुछ

तो केवल काम करने के घंटों के लिये नगर में जाते हैं, और रहने के लिये उससे दो चार मील दूर के ग्राम में मकान लेते हैं, जिससे उनके स्वास्थ्य का, तथा उसके फल-स्वरूप उनकी कार्य-कुशलता का ह्रास न हो।

जातीयता, रहन-सहन और स्वास्थ्य—कभी कभी ऐसा भी अनुभव में आता है कि एक जाति का श्रमजीवी, दूसरी जाति वाले की अपेक्षा अधिक कार्य-कुशल होता है। इसका कारण कुछ अंश में उसके पूर्वजों का स्वास्थ्य तथा योग्यता होती है, परन्तु इसमें उसका उत्तम भोजन तथा रहन-सहन भी सहायक हो सकता है, कारण कि दरिद्र, भरपेट भोजन न पाने वाले, गंदे स्थानों में रहने वाले व्यक्ति या उनकी सन्तान उतना श्रम नहीं कर सकती, जितना पौष्टिक भोजन करने और स्वास्थ्य-प्रद स्थानों में रहने वाले कर सकते हैं। प्रस्तुत अर्थशास्त्र की पुस्तक में स्वास्थ्य सम्बन्धी नियमों का ब्यौरा देना मुख्य प्रसंग से बाहर जाना है। हम यहाँ इस बात का भी विचार नहीं कर सकते कि कैसा भोजन किस प्रकार के श्रमियों के लिये अधिक उपयोगी होगा। प्रायः देश काल के भेद से इस विषय के कुछ भिन्न भिन्न सिद्धान्त ठीक रहेंगे। शारीरिक और मानसिक कार्य करने वालों के लिये, युवकों, प्रौढों, और वृद्धों के लिये, तथा शीत-प्रधान देश निवासियों और उष्ण या सम-शीतोष्ण भू-भागों के निवासियों के लिये कुछ भिन्न भिन्न प्रकार के भोजन की आवश्यकता होती है। किसी 'आहार शास्त्र' की उत्तम पुस्तक से ये बातें भली प्रकार जानी जा सकती है।

हमें यहाँ केवल एक बात का उल्लेख करना, है यदि मनुष्य विशुद्ध स्वास्थ्य या शरीर-पुष्टि की दृष्टि से विचार करें तो उन्हें ज्ञात होगा कि उनके उपभोग में आने वाली बहुत सी वस्तुएँ न केवल अनावश्यक हैं, वरन् निश्चित रूप से हानिकर हैं।

केवल जीह्वा के स्वाद के लिये कितनी अधिक मिर्च, और गर्म मसाले तथा मिठाइयाँ खर्च होती हैं। तमाखू, चाय, अफीम, गाँजा, भंग, चरस, कोकेन, तथा भाँति भाँति की घटिया और बढ़िया शराबों के उपभोग का कैसी विचित्र दलीलों से समर्थन किया जाता है। प्रायः हमें बहुत सी चीज़ों को देखा-देखी खर्च करने की आदत हो जाती है, हम उसकी उपयोगिता या अनुपयोगिता का विचार नहीं करते। भारतवर्ष में आदमी योरपियनों की देखा-देखी चाय और शराब का उपभोग बढ़ा रहे हैं। भला, कहाँ योरप के ठंडे देश, और कहाँ भारतवर्ष का अधिकतर उष्ण भाग! चाय के विषय में तो मानों ऋतु का प्रश्न ही नहीं रहा। विज्ञापन दाताओं ने इसे गर्मी में ठंडा, और सर्दी में गर्म, तथा वर्षा काल के भी उपयोगी प्रसिद्ध कर दिया है। गो भक्त भारतवासी सर्वमान्य सर्वोपयोगी दुग्धामृत से मुँह मोड़ रहे हैं, और चाय तथा कुछ अंश में शराब का अधिकाधिक उपभोग कर रहे हैं, (तमाखू, गाँजा, भंग और चरस, आदि का व्यसन तो उनमें पहले से ही था), यह कितने खेद का विषय है। अस्तु, यहाँ इस विषय पर अधिक न लिखते हुए हमारा केवल यही वक्तव्य है कि हमें अपने भोजन में यह दृष्टि रखनी चाहिये कि वह हमारी शारीरिक तथा मानसिक शक्ति की पुष्टि करे, और हमारी कार्यक्षमता को बढ़ावे। यही दृष्टि वस्त्रों के विषय में रहनी चाहिये, केवल फैशन या शौकीनी के लिये ऐसे वस्त्रों का उपयोग न करना चाहिये, जिनसे हमारी कार्यक्षमता का ह्रास हो।

शिक्षा—यह हुई, स्वास्थ्य की बात। धनोत्पत्तिमें श्रमजीवी की मानसिक योग्यता का भी बड़ा भाग होता है। यों तो सभी कार्यों में कुछ न कुछ मानसिक योग्यता भी चाहिये, पर शिल्प, व्यवसाय आदि कुछ कार्यों में तो इस की विशेष ही आवश्यकता

होती है। इन कार्यों में, जो व्यक्ति समझने विचार करने, स्मरण रखने तथा निर्णय करने आदि की अधिक योग्यता रखता है, उसका अधिक धनोत्पत्ति करना स्वाभाविक ही है। समुचित शिक्षा द्वारा इन गुणों की वृद्धि होती है, अतः इसकी आवश्यकता स्पष्ट ही है। शिक्षा दो प्रकार की होती है, साधारण और विशेष। साधारण शिक्षा तो सभी को चाहिये, जिससे उनके मानसिक और नैतिक गुणों की उन्नति हो। विशेष शिक्षा, भिन्न भिन्न प्रकार का कार्य करने वालों को उनके कार्य की दृष्टि से पृथक् पृथक् चाहिये। कृषक, शिल्पी, व्यवसायी, लेखक, व्यापारी, आदि सब की शिक्षा की समुचित-व्यवस्था होने की आवश्यकता है। आधुनिक काल में प्रायः प्रत्येक सभ्य कहलाने वाले देश में प्रारम्भिक शिक्षा निःशुल्क और अनिवार्य होती है। भारतवर्ष में इसके लिये बहुत समय से सरकार का ध्यान आकर्षित किया जा रहा है। पर अभी तक बहुत परिमित क्षेत्र को छोड़ कर, अन्यत्र यह आरम्भ नहीं की गयी है। विशेष शिक्षा के प्रचार के लिये विविध राज्यों में उत्तरोत्तर उन्नति हो रही है।

इस प्रसंग में यह बात भी स्मरण रखने की है घर में माता-पिता आदि द्वारा मिलने वाली शिक्षा का भी यथेष्ट महत्व है। प्रायः बालक अपने पैत्रिक कार्य को जल्दी और सुविधा-पूर्वक सीख लेते हैं, और बहुधा अपने बड़ों के अन्य गुणों को भी धारण करते हैं।

नैतिक गुण—धनोत्पत्ति पर श्रमियों के नैतिक गुणों का भी बहुत प्रभाव पड़ता है। उदाहरणवत् जो आदमी अपनी इच्छा से मन लगा कर कार्य करता है, वह उस आदमी की अपेक्षा अधिक धनोत्पत्ति करता है, जो किसी निरीक्षक के सामने तो अच्छा काम करता है, और उसकी अनुपस्थिति में जैसे-तैसे समय व्यतीत करने की बात सोचता है। यदि किसी

कार्य में लगे हुए सब श्रमी अपना कर्तव्य समझ कर अपना अपना कार्य भली भाँति करते रहें तो उनके लिये निरीक्षक रखने की आवश्यकता न हो, और उसकी मद में किये जाने वाले खर्च की कमी हो सके। ईमानदार आदमी के भरोसे रुपया-पैसा आदि भी छोड़ा जा सकता है, वह उसको सुरक्षित रखने का कार्य, बेईमान आदमी की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह करेगा। इसी प्रकार धैर्य, दृढ़ता, आशावादिता और अपने कार्य से संतोष-प्राप्ति की भावना भी कार्य-कुशलता की वृद्धि में सहायक होती है।

कार्य करने की स्वतंत्रता—यह भी उल्लेखनीय है कि कार्य करने की स्वतंत्रता का भी कुशलता से बड़ा सम्बन्ध है। जो आदमी बल-पूर्वक कार्य करने के लिये बाध्य किये जाते हैं, जिन्हें बेगार करनी होती है, उनसे कार्य बढ़िया तथा अधिक नहीं होता। बेगार की प्रथा अब विविध देशों में क़ानून द्वारा उठा दी गयी है, परन्तु वह उसी अथवा अन्य रूप में अब भी अनेक स्थानों में विद्यमान है। शर्तबन्द कुली प्रथा उसका नवीन संस्करण है। भारतवर्ष आदि कुछ देशों में जाति-पाँति की व्यवस्था होने के कारण कुछ आदमी विशेष प्रकार का श्रम करने के लिये बाध्य किये जाते हैं, चाहे वह काम उन्हें रुचिकर हो या न हो। इस सम्बन्ध में विशेष आगे कहा जायगा। यहाँ यही बतलाना अभीष्ट है कि जो व्यक्ति अपने कार्य के करने में स्वतंत्र होते हैं, वे बेगारियों, शर्तबन्द कुलियों या दासों की अपेक्षा अधिक कुशल होते हैं। इस लिये श्रमियों को कार्य करने की स्वतंत्रता रहनी चाहिये, और समाज तथा राज्य के क़ायदे क़ानूनों में इस बात की यथेष्ट व्यवस्था होनी चाहिये।

उन्नति और लाभ की आशा—जिस श्रमी को यह

आशा होती है कि धनोत्पादन का अधिक कार्य करने से उसे अधिक लाभ होगा, वह अवश्य ही उस श्रमी की अपेक्षा, परिमाण या गुण में अधिक कार्य करेगा, जो जानता है कि मैं चाहे जितना काम करूँ, मेरी दशा में कुछ सुधार नहीं होना है, अधिक श्रम करने से मुझे अधिक लाभ नहीं होगा। जिन श्रमियों की वेतन निश्चित रहती है, वह इतना ही श्रम करते हैं कि उनका कार्य बहुत कम या घटिया न माना जाय, और वे अपनी जगह पर बने रह सकें। इसी लिये बहुत से सरकारी तथा गैर-सरकारी कामों में ऐसा नियम किया हुआ रहता है कि जो व्यक्ति इतने समय तक अपना काम बहुत अच्छी तरह करेगा, उसकी इतनी वेतन-वृद्धि हो जायगी, इतने वर्ष बाद उसे इतना पुरष्कार मिल जायगा, या इतनी पेन्शन या प्राविडैंट-फंड मिल सकेगा। ऐसी व्यवस्था होने से काम करने वाले अपना कार्य यथा-सम्भव अधिक से अधिक उत्तमता से सम्पादन करते हैं।

इसी प्रकार नित्य देखने में आता है कि जब किसी काम का ठेका दे दिया जाता है, तो ठेके लेने वाला उसमें अपनत्व का अनुभव करता है, वह खूब जी लगा कर काम करता है। वह उस कार्य में हर प्रकार से मितव्ययी रहता है, किसी काम में फजूलखर्ची नहीं होने देता, श्रमियों तथा अपने अधीन अन्य कर्मचारियों के श्रम की पूर्णतया देख-भाल करता है, जिससे कोई आदमी कभी खाली बैठा रह कर अपना समय नष्ट न करे। वह यह भी देखता है कि सामान खराब न जाय, और आवश्यक वस्तुएँ ठीक दाम से ही आवें। इसका कारण क्या है? ठेकेदार जानता है कि ऐसा करने से खर्च में जितनी किफायत या बचत होगी, उतना ही उसे अधिक लाभ होगा। हाँ, कभी कभी वह अत्यधिक लाभ की आशा से कुछ घटिया वस्तुएँ लगाने

की भी चेष्टा करता है। इसके निवारण के लिये अनेक आदमी सामान स्वयं अपना देते हैं, और ठेकेदार केवल श्रम का ही जिम्मा लेता है। अस्तु, यह स्पष्ट है कि लाभ की आशा होने पर कार्य में उन्नति होती है, कार्य-कुशलता बढ़ती है।

इसके विपरीत, जो व्यक्ति भारतीय किसानों की भाँति इतने ऋण-ग्रस्त रहते हैं कि जन्म भर क्या, पीढ़ी दर पीढ़ी भी उससे मुक्त नहीं हो सकते, जिन्हें अपनी आय में से सूद की मद में इतनी रक़म दे देनी पड़ती है, कि फिर उनके पास अपनी साधारण आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये पर्याप्त साधन नहीं रहते, जिन्हें प्रति मास, और प्रति वर्ष आधे भूखे और आधे नंगे रह कर दिन काटने होते हैं, तथा इस रहन-सहन में कुछ भी सुधार होने की आशा नहीं है, वे धनोत्पादन के लिये किस प्रकार यथेष्ट उत्साह-युक्त हो सकते हैं! उनकी कार्य कुशलता का ह्रास तो होने वाला ही ठहरा।

इसी प्रकार जिन किसानों से भारतीय किसानों की तरह लगान के रूप में, ज़मींदारों या सरकार द्वारा इतनी रकम ले ली जाती है कि फिर उनके पास अपने जीवन-निर्वाह के लिये काफ़ी नहीं रहता, तथा जो यह जानते हैं कि यदि हमने अपने श्रम से कुछ धनोत्पत्ति अधिक भी की तो उसका अधिकांश भाग उनके पास न रहने दिया जायगा, वरन् ज़मींदारों या सरकार द्वारा ले लिया जायगा, उनकी कार्य कुशलता कैसे बढ़ सकती है! आवश्यकता है कि किसान जो अधिक धनोत्पत्ति करें, उसका अधिकांश फल उन्हें ही मिले, कोई दूसरा व्यक्ति या संस्था उसे उनसे न ले सके; लगान बहुत परिमित परिमाण में लिया जाय।

स्मरण रहे कि किसी श्रमी को उसके श्रम का प्रतिफल जितना शीघ्र और प्रत्यक्ष रूप से मिलता है, उतनी ही उसकी

कार्यक्षमता बढ़ने में सहायता मिलती है। इस दृष्टि से यह आवश्यक है कि भूमि पर किसानों का स्वत्व रहे, जब आदमी किसी कार्य को अपना समझ कर करता है तो उसमें उसकी तल्लीनता, उत्साह और स्फूर्ति कुछ और ही हो जाती है, उसकी कार्य-क्षमता बहुत ही बढ़ जाती है।

कार्य-क्रम की विभिन्नता—दिन प्रति दिन, एक माह के बाद दूसरे माह, और एक वर्ष के बाद दूसरे वर्ष, एक ही प्रकार की दिन-चर्या और कार्य-क्रम रहने से जीवन में निरसता आ जाती है, कार्य कुशलता का ह्रास हो जाता है। इस बात को ध्यान में रखते हुए ऐसी व्यवस्था होने की आवश्यकता है कि श्रमजीवी समय समय पर अपने कार्य में थोड़ा-बहुत परिवर्तन कर सके। इसका आशय यह नहीं है कि एक कार्य को छोड़ कर एक दम दूसरा नया कार्य ग्रहण किया जाय, इसमें जो बड़ी कठिनाई होती है, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। उपर्युक्त परिवर्तन का आशय यही है कि श्रमजीवी जिस कार्य को करता है, कभी कभी सुविधानुसार उसी से घनिष्ठ सम्बन्ध रखने वाला तथा उससे मिलता हुआ दूसरा कार्य किया करे। परन्तु आधुनिक कल कारखानों में ऐसा करना कितना कठिन है, यह सर्व विदित है। इस दशा में तो यही हो सकता है कि श्रमी को काम के घंटों के बीच में थोड़ा विश्राम मिले। यही बात की भी जाती है। प्रायः मिलों में आठ से दस घंटे तक काम होता है। इस बीच में अनेक स्थानों में लगभग आधे घंटे की छुट्टी रहती है। दफ्तरों में मानसिक श्रम करने वालों के लिये प्रायः ऐसी व्यवस्था नहीं रहती, पर उनके काम करने के घंटे प्रायः पाँच छः ही होते हैं, और उनके श्रम पर ऐसा कठोर नियंत्रण नहीं रहता, वे लोग कभी भी दस पाँच मिनिट के लिये विश्राम का अवसर निकाल सकते हैं। अध्यापकों को प्रायः बीच में सामान्य अवकाश तो

मिलता ही है, उसके अतिरिक्त, कुछ दशाओं में उनके और भी घंटे खाली रहते हैं।

इसी प्रकार श्रमियों को बहुधा पाक्षिक या साप्ताहिक छुट्टी रहती है। कुछ कारखानों में सप्ताह में एक दिन (रविवार) की छुट्टी के अतिरिक्त शनिवार को आधे दिन का अवकाश और मिलता है। इसका लक्ष्य यही है कि श्रमी को अपना मन बहलाने, और अपने बाल बच्चों में रहने तथा अपनी अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति का अवसर मिले। यद्यपि कुछ दशाओं में श्रमी इसका पूर्ण उपयोग करने में असमर्थ होते हैं, तथापि कार्यक्षमता की दृष्टि से मनोरंजन, बाग बगीचों या अन्य दर्शनीय स्थानों की सैर आदि से अपने दैनिक-कार्य क्रम में कुछ विभिन्नता लाना बहुत उपयोगी है।

संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली—श्रम की कार्य-कुशलता पर कुटुम्ब प्रणाली का भी प्रभाव पड़ता है। संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली से जहाँ यह लाभ है कि इससे अनाथों का पालन-पोषण तथा शिक्षा की सुविधा होती है, यह हानि भी है कि व्यक्तियों में स्वावलम्बन का भाव नहीं पैदा होता, और क्योंकि इससे एक व्यक्ति की उपार्जित सम्पत्ति का उसके सब परिवार वाले उपभोग करते हैं, अतः कमाने वाले को, जब तक उसमें सेवा और परोपकार की विशेष भावना न हो, साधारणतया धनोत्पत्ति में यथेष्ट उत्साह नहीं होता। अर्थात् दूसरे शब्दों में उसकी कार्य-कुशलता घटती है। आजकल आर्थिक कारणों से, तथा व्यक्तिगत स्वातंत्र्य के भावों के प्रचार से, संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली क्रमशः लुप्त होती जा रही है।

नवाँ अध्याय

श्रम विभाग

—: * :—

श्रम विभाग का प्रादुर्भाव—आरम्भ में मनुष्य की आवश्यकताएँ कम होती हैं। आदमी अपने खाने के लिये स्वयं ही शिकार करता है, या जंगल में पैदा होने वाली खाद्य वस्तुओं का संग्रह कर लेता है। धूप अथवा वर्षा, गर्मी या सर्दी से बचने के लिये वह किसी गुफा की शरण ले लेता है, या साधारण झोपड़ी सी बना लेता है। आवश्यकतानुसार जंगली पशुओं से अपनी रक्षा करने के लिये मामूली हथियार भी वह स्वयं ही बना लेता है। कालान्तर में ज्यों ज्यों सभ्यता की वृद्धि होती है, गाँवों का निर्माण होने लगता है, आदमी अकेले या अपने परिवार में ही न रह कर, अन्य आदमियों और परिवारों के साथ गाँव बसा कर, उसमें रहने लगता है। धीरे धीरे उसकी आवश्यकताएँ बढ़ती जाती हैं, केवल अपने श्रम से बनाई हुई चीजों से उसका काम नहीं चलता। उसे दूसरों की सहायता की, तथा उनकी बनायी वस्तुओं की आवश्यकता होती है। क्रमशः उसे यह अनुभव होता है कि यदि वह अपनी शक्ति और समय एक विशेष कार्य में लगावे तो लाभ अधिक हो, अर्थात् धनोत्पत्ति बढ़ जाय। इस पर वह एक ही प्रकार का कार्य करने लगता है, और उत्पन्न पदार्थ विविध व्यक्तियों को देकर उनसे, उनकी उत्पन्न की हुई वस्तुएँ, अपनी आवश्यकता के अनुसार, ले लेता है। उदाहरणार्थ, गाँव का एक आदमी

केवल अन्न पैदा करता है. एक केवल लकड़ी लाता है, एक केवल कपड़ा तैयार करता है, इत्यादि। इस प्रकार गाँव के कृषक, लकड़हारे और जुलाहे आदि का काम पृथक् पृथक् हो जाता है। समाज में क्रमशः भिन्न भिन्न पेशों की वृद्धि होती रहती है। पीछे एक एक पेशे के कई कई भाग होने लगते हैं। उदाहरणार्थ, कपड़े तैयार करने के लिये एक आदमी केवल कपास पैदा करता है; दूसरा कपास लेकर केवल उसे ओटता है, अर्थात् उसमें से रुई और बिनौले पृथक् पृथक् करता है; तीसरा केवल रुई का सूत कातता है; चौथा केवल कपड़ा बुनने का ही कार्य करता है। इसमें प्रत्येक व्यक्ति एक कार्य के एक एक भाग का काम करता है, यह एक एक भाग स्वतः पूर्ण है और उसके परिणाम-स्वरूप तैयार होने वाली चीज़ दूसरे व्यक्ति के लिये कच्चे माल का काम दे देती है, जिससे वह उससे आगे की क्रिया करने लगता है।

अब श्रम-विभाग का स्वरूप और आगे बढ़ता है। एक कार्य के विविध भागों में से प्रत्येक के कई कई सूक्ष्म उपविभाग किये जाते हैं, और एक व्यक्ति ही नहीं, व्यक्ति-समूह उक्त उपविभाग का कार्य करता है। प्रत्येक उपविभाग अपूर्ण होता है। और, एक के बाद दूसरे, बहुत से उपविभागों का कार्य हो चुकने पर अन्ततः अभीष्ट वस्तु बनती है। आधुनिक काल में कल-कारखानों में बड़े पैमाने की उत्पत्ति होती है। उसमें श्रम-विभाग बहुत सूक्ष्म होता है, कपड़ा बुनने की क्रिया लगभग अस्सी उपविभागों में विभक्त है। पिन या सूई जैसी ज़रा ज़रा सी वस्तु को बनाने के लिये उसके कार्य को दर्जनों विविध उप-विभागों में बाँटा जाता है।

अस्तु, श्रम विभाग का अर्थ है कार्य को बहुत से उपविभागों में बाँटना और प्रत्येक उप-विभाग का विविध व्यक्ति-समूहों द्वारा

किया जाना। साधारणतया, जैसा कि ऊपर के उदाहरणों से विदित है, श्रम विभाग के तीन रूप होते हैं :—

१. भिन्न भिन्न पेशों का पृथक् पृथक् होना।

२. एक एक पेशे के कई कई ऐसे विभाग होना, जिनमें से प्रत्येक अपने तौर से पूर्ण हो।

३. एक एक पेशे के एक एक विभाग के अनेक उपविभाग होना, जिनमें से प्रत्येक अपूर्ण हो।

ज्यों ज्यों सभ्यता की वृद्धि होती जाती है, श्रमविभाग अधिकाधिक सूक्ष्म होता रहता है। अन्ततः एक एक पेशेवालों को किसी एक विशेष स्थान पर ही रह कर काम करना सुविधाजनक मालूम होने लगता है। भिन्न भिन्न स्थानों के, उस पेशे के आदमी वहाँ आकर रहने लगते हैं। इस स्थान की जनसंख्या बढ़ती जाती है, और यह क्रमशः क़स्बा और नगर बन जाता है। इस प्रकार, कितने ही नगर एक एक विशेष पेशे के केन्द्र बन जाते हैं, कोई केवल कपड़े का, कोई बर्तनों का, और कोई लोहे के सामान आदि का। इसे उद्योग धन्धों का स्थानीयकरण कहते हैं। इस विषय में विशेष आगे लिखा जायगा।

श्रम विभाग की प्रचीनता—ऊपर कहा गया है कि सभ्यता की वृद्धि के साथ श्रम विभाग सूक्ष्म होता जाता है। परन्तु अपने सीधे सादे रूप में तो यह अति प्राचीन है। स्त्रियाँ प्रायः घर में रहते हुए गृहस्थी का कार्य—बाल बच्चों का पालन-पोषण और भोजन आदि की व्यवस्था—करती हैं, और पुरुष अधिकतर बाहर रह कर परिवार की आजीविका प्राप्ति का प्रयत्न करते हैं, यह एक प्रकार का श्रम विभाग ही है। भारतवर्ष में वर्ण व्यवस्था अति प्राचीन काल से चली है। इसका अभिप्रायः आरम्भ में यही था कि विविध आवश्यक कार्यों को

केवल चार भागों में बांटते हुए प्रत्येक को उसके उपयुक्त व्यक्तियों को सौंपा जाय, अर्थात् समाज का जो अंग जिस प्रकार का कार्य अच्छी तरह सम्पादित कर सके, उसे वैसा ही कार्य दिया जाय—शूद्रों को भिन्न प्रकार की सेवा, वैश्यों को कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य, क्षत्रियों को समाज तथा राष्ट्र की रक्षा और ब्राह्मणों को शिक्षा, पूजा पाठ आदि का कार्य दिया जाय। समाज के ये चार भेद विद्वान (ब्राह्मण), वीर (क्षत्रीय) अर्थोत्पादक (वैश्य) और भिन्न प्रकार का कार्य करने वाले (शूद्र) प्रायः सर्वत्र होते हैं।

जाति भेद—भारतवर्ष में पहले चार ही जातियां थीं, और इनका आधार इनके व्यक्तियों द्वारा किया जाने वाला कर्तव्य कर्म अथवा गुण कर्म स्वभाव आदि था। पीछे जो आदमी जिस जाति में जन्मा, वह उसी का प्रसिद्ध होने लगा, चाहे कार्यों या गुणों की दृष्टि से वह अपने पूर्वजों से भिन्न क्यों न हो। क्रमशः इन जातियों की संख्या भी बढ़ती गयी। अब तो हिन्दुओं में छोटी बड़ी हज़ारों जातियां हैं, कुछ जातियों के पुरुषों और स्त्रियों की संख्या कुछ सौ ही है, एक एक हज़ार भी नहीं। अनेक जातियों की उपजातियों के भेद का आधार केवल भौगोलिक है। अर्थात् उसी उपजाति के आदमी दो भिन्न भिन्न प्रान्तों के निवासी होने के कारण एक दूसरे से रोटी-बेटी का व्यवहार नहीं रखते। अब, यह जाति भेद क्रमशः कम हो रहा है; तथापि अभी यह काफ़ी विद्यमान है। हम आर्थिक अथवा कार्य-कुशलता की दृष्टि से वर्ण व्यवस्था पर संक्षेप में विचार करते हैं।

इससे लाभ तो यह है कि श्रमियों में वंशानुगत कार्य कुशलता बढ़ती है, अपने परिवार में ही उन्हें अपने कार्य की शिक्षा मिल जाती है। एक जाति वालों का एक संघ सा हो जाता है, जो

अपने सदस्यों को सहायता करता है। इससे कुछ अंश तक स्थूल श्रम विभाग हो जाता है, जिसके विषय में विशेष अन्यत्र लिखा गया है। जाति भेद से यह हानि भी है कि एक जाति के श्रमियों की आवश्यकता होने पर अपना स्थान या पेशा बदलने में कठिनाई होती है। कुछ आदमियों को निम्न श्रेणी का माना जाता है, और उन्हें उनकी इच्छा के विरुद्ध भी विशेष प्रकार का कार्य करने के लिये बाध्य किया जाता है। जाति-भेद मानने वाले श्रमियों का, कल कारखाने आदि बड़े बड़े कार्यों के लिये संगठन करने में बड़ी बाधा उपस्थित होती है। उनकी कार्य कुशलता का यथेष्ट उपयोग नहीं होता।

श्रम विभाग किन दशाओं में अधिक होता है?

श्रम विभाग उसी दशा में हो सकता है, जब कि कार्य करने वाला एक ही व्यक्ति न हो, वरन् एक व्यक्ति समूह हो, जिसके आदमी कार्य को भिन्न भिन्न भागों में बांट कर अपने अपने हिस्से का पृथक् पृथक् कार्य करें, और अन्त में सब के श्रम का संयुक्त प्रतिफल वह काम हो। यह आवश्यक नहीं है कि जब एक व्यक्ति-समूह काम करे तो श्रम विभाग ही हो। उदाहरणवत यदि बहुत से आदमी मिल कर एक पेड़ को गिराते हैं, अथवा एक भारी बोझ को उठाते हैं तो यह श्रम-विभाग नहीं है, कारण कि इस दशा में सब आदमी एक ही काम करते हैं, वे उसके भिन्न भिन्न भागों की क्रियाएँ नहीं करते। इसी प्रकार, यदि कार्य के भाग भी कर दिये जायँ, परन्तु उन भागों को करने वाला एक ही व्यक्ति हो, वह अपने समय का विभक्त करके पहले एक भाग की क्रिया करे, पश्चात् दूसरे भाग की, तदनंतर तीसरे की, इत्यादि, तो यद्यपि इसमें कार्य एक अच्छे ढंग से होता है, और इससे कुछ लाभ भी हो सकता है, अर्थशास्त्र में इसे श्रम विभाग नहीं कहा जायगा। अर्थशास्त्र को

दृष्टि से तो श्रम विभाग तभी होगा, जब कार्य करने वाले व्यक्ति अनेक हों, तथा वे किसी कार्य के भिन्न भिन्न भागों या उपविभागों की क्रिया का सम्पादन करें।

श्रम विभाग उन कार्यों में ही अधिक हो सकता है, जो प्रति दिन एक ही प्रकार से किये जाने वाले हों, किसी विशेष ऋतु आदि के अनुसार समय समय पर बदलते न रहते हों। उदाहरणार्थ, कृषि कार्य में कभी भूमि तैयार करने का काम है, कभी बीज बोने का, कभी खेतों में से फालतू घास निकालने का, कभी फसल काटने आदि का। बीच में कितने ही समय तक कुछ विशेष कार्य नहीं होता। ऐसी दशा में श्रम विभाग का प्रयोग बहुत अच्छी तरह नहीं हो पाता।

पुनः श्रम विभाग की यथेष्ट सफलता के लिये यह भी आवश्यक है कि कार्य क्षेत्र बहुत विस्तृत न हो। बड़े बड़े खेतों का क्षेत्रफल कई कई एकड़ होता है। इतने विस्तृत क्षेत्र में किये जाने वाले कार्य की देख-भाल करना कठिन होता है; तथा इसमें समय और श्रम की वह बचत भी यथेष्ट रूप से नहीं होती, जो श्रम विभाग का एक विशेष लाभ है (इसके सम्बन्ध में अन्यत्र लिखा गया है)। फलतः खेती में श्रम विभाग कम काम में आता है। यह तो कारखानों के लिये ही अधिक उपयुक्त होता है, जो एक थोड़े से स्थान में ही होते हैं, तथा जिनका काम प्रति दिन एक ही प्रकार से होता है।

श्रम विभाग किस सीमा तक हो सकता है, यह इन बातों पर निर्भर है कि उत्पन्न की जाने वाली वस्तु की माँग कितनी है, और उसके तैयार करने की विधि कैसी है।

यदि एक वस्तु की माँग बहुत थोड़ी है, और उसके उतने परिमाण की उत्पत्ति एक ही आदमी कर सकता है, तो श्रम विभाग का प्रश्न ही नहीं आता। जब उस वस्तु की माँग

बढ़ती है, तो उसे अपने साथ काम करने वाले कुछ सहायकों की आवश्यकता होती है। इस दशा में वह सोचता है कि काम को किन किन उपविभागों में विभक्त किया जाय, जिससे उसे और उसके सहायकों को अपनी अपनी योग्यता तथा दक्षता के अनुसार श्रम करने का अवसर मिले। ज्यों ज्यों श्रम विभाग बढ़ता है, त्यों त्यों वस्तु का औसत उत्पादन-व्यय कम होता जाता है, (इस सम्बन्ध में आगे लिखा गया है), इससे वस्तु की मांग को वृद्धि तथा बाजार का विस्तार होने में सहायता मिलती है। हाँ, इसकी एक सीमा है। जब श्रम विभाग के द्वारा उत्पादन बहुत अधिक होने लगता है तो उत्पन्न वस्तु की खपत के लिये नये बाजार की ज़रूरत होती है; ऐसे स्थानों की खोज की जाती है, जहाँ वह वस्तु पहले से नहीं पहुँच रही है, अथवा जिन स्थानों में वह अन्य व्यक्तियों द्वारा पहुँचायी जा रही है, वहाँ अब उनसे प्रतियोगिता करते हुए, सस्ती करके भेजी जाय। यदि ऐसा न किया गया तो जो वस्तु अधिक उत्पन्न की गई है, वह बिना बिकी पड़ी रहेगी, आगे उत्पत्ति कम की जायगी और श्रम विभाग से होने वाले लाभ को सीमित किया जायगा। अस्तु, जिन बातों से किसी वस्तु का बाजार बढ़ता है, उदाहरणवत् जिनसे आमोदरफ़्, यातायात, या माल-ढुलाई की सुविधाएँ होती हैं, उनसे श्रम विभाग अधिक लाभदायक होता है।

श्रम विभाग के लाभ—जैसा कि पहले कहा गया है, जाति भेद में श्रम विभाग बहुत स्थूल रूप से हो होता है। आधुनिक कल-कारखानों में श्रम विभाग इतना सूक्ष्म हो गया है, एक एक कार्य के उपविभागों की संख्या इतनी अधिक हो चली है कि उसको देखते हुए जाति भेद में श्रम-विभाग नहीं सा मालूम होता है। अस्तु, अब हमें जानना चाहिये कि

आधुनिक अर्थात् सूक्ष्म श्रम विभाग से क्या लाभ हानि है। पहले इससे होने वाले लाभों पर विचार करते हैं।

निपुणता की वृद्धि और समय की बचत--यह तो स्पष्ट ही है कि कोई एक काम पूरा सीखने में समय बहुत लगता है, और उसका एक भाग सीखने में कम। पुनः जब किसी व्यक्ति को थोड़ा सा काम सीखना होता है, तो उसका अभ्यास बहुत होने तथा उसमें विशेषज्ञ बनने का अवसर भी उसे अपेक्षाकृत अधिक ही मिलता है। एक खास क्रिया को बारम्बार करते रहने से मनुष्य की शारीरिक तथा मानसिक शक्ति उस विशेष क्रिया के लिये ऐसी बढ़ जाती है कि उसके करने में उसे कुछ ज़ोर नहीं लगाना पड़ता, वह मानों अपने आप ही होती रहती है। किसी छापेखाने में एक कम्पोज़ीटर को देखिये; वह 'केस' के खानों में से कैसी जल्दी जल्दी बिना देखे वही अक्षर उठाता है, जिसकी उसे कम्पोज़ करने के लिये आवश्यकता है। उसे यह नहीं सोचना पड़ता कि अमुक अक्षर का खाना कौन सा है। उसका हाथ स्वयमेव उपयुक्त खाने में जाता रहता है। बहुधा वह दूसरे आदमी से बातचीत करता हुआ भी अपना काम मानों यंत्र की तरह फुर्ती से करता रहता है। इसी प्रकार 'टाइप' करने वाले की अँगुलियाँ अपना काम बड़ी तेज़ी से करती रहती हैं। यदि वह एक एक अक्षर के स्थान को पढ़ कर उस पर अंगुली रखे, जैसे कि किसी नौ-सिखिये को करना पड़ता है, तो कितना अधिक समय लगे!

पुनः यदि एक आदमी को भिन्न भिन्न कार्य अथवा एक कार्य के भिन्न भिन्न भागों की कई कई क्रियाएँ करनी पड़ें तो उनके लिये सम्भव है भिन्न भिन्न औज़ारों की आवश्यकता हो। उन्हें उठाने में, और उनका कार्य पूरा हो जाने पर उन्हें रखने तथा दूसरों को उठाने में समय लगेगा। इसके विपरीत, जब

उसे एक ही कार्य अथवा उसके किसी एक ही भाग की कोई क्रिया करनी होगी तो उसे औजारों को उठाने धरने की, तथा अपना ध्यान एक यंत्र से हटा कर दूसरे में लगाने की आवश्यकता बहुत कम होगी। और, इसके परिणाम-स्वरूप उसका बहुत सा समय बचेगा। इसी प्रकार जब कि एक व्यक्ति द्वारा किये जाने वाले भिन्न भिन्न कार्य अथवा एक कार्य की भिन्न भिन्न क्रियाओं को करने का स्थान पृथक् पृथक् कुछ दूरी पर हो, अथवा एक मकान की भिन्न भिन्न मंजिलों में हो, तो उन्हें करने वाले के लिये एक स्थान से दूसरे स्थान जाने में भी बहुत समय लगता है। श्रम विभाग में, आदमी एक ही कार्य या उसकी कोई एक खास क्रिया, अपनी निर्धारित जगह पर बैठा करता रहता है, उसे उपर्युक्त प्रकार से समय खर्च नहीं करना पड़ता। इससे उसके समय की बहुत बचत हो जाती है।

आविष्कार और यंत्रों का उपयोग—भिन्न भिन्न प्रकार की कई कई क्रियाओं वाले कार्य बहुत पेचीदा होते हैं, उन्हें करने के लिये मशीनों या यंत्रों का उपयोग नहीं हो सकता। श्रम विभाग द्वारा उस कार्य को बहुत से उपविभागों में विभक्त कर दिया जाता है, जिनमें से प्रत्येक उपविभाग में की जाने वाली क्रिया बहुत सरल होती है। ऐसा होने पर उक्त उपविभागों की क्रिया को करने के लिये श्रमियों की जगह मशीनों का उपयोग सहज ही हो जाता है; इससे कार्य बहुत जल्दी तथा कम श्रम से सम्पादन होता है, और जहाज़ तथा रेल आदि का बहुत सा बड़े परिमाण का कार्य तो ऐसा हो जाता है, जो अन्यथा हो ही नहीं सकता। मशीनों के बारे में विशेष आगे लिखा जायगा।

श्रम विभाग में श्रमी एक बहुत साधारण और सरल क्रिया

करता है। निरंतर इसे करते करते उसे इसकी कोई और अधिक सुगम विधि मालूम हो सकती है। इसका यह आविष्कार अन्य अनेक श्रमियों के लिये बहुत लाभ-प्रद होता है। वैज्ञानिक या यांत्रिक आविष्कारों का यथेष्ट उपयोग भी तभी हो सकता है, जब श्रम विभाग द्वारा काम किया जाय।

शारीरिक तथा मानसिक शक्ति का यथेष्ट उपयोग—प्रायः श्रमियों की कार्य कुशलता भिन्न भिन्न होती है। किसी में शारीरिक शक्ति अधिक होती है, किसी में मानसिक। पुनः किसी की कोई कर्मेन्द्री तेज़ होती है, किसी की कोई। श्रमियों में पुरुष स्त्री, बच्चे बूढ़े, बलवान, दुर्बल, अंधा, लंगड़ा आदि अनेक प्रकार के व्यक्ति होते हैं। श्रम-विभाग द्वारा ही यह सम्भव है कि इनमें से प्रत्येक को उसकी सामर्थ्य के अनुसार काम दिया जा सके। यदि प्रत्येक आदमी को सभी कार्य करना हो, तो इनमें से बहुत सों का उपयोग ही न हो सकेगा। कुशल श्रमजीवी को अपना समय ऐसे कार्य में भी लगाना पड़ेगा, जिसे साधारण योग्यता वाला व्यक्ति भी कर सकता है, इसमें उसकी कार्य कुशलता से पूरा लाभ नहीं होगा। और, अकुशल श्रमजीवी को वह कार्य भी करना होगा, जो कुशल श्रमजीवी के करने का है, इससे वह कार्य बिगड़ेगा. इसमें सन्देह ही क्या है।

मितव्ययिता—पहले बताया जा चुका है कि श्रम विभाग द्वारा श्रमियों की निपुणता बढ़ती है, तथा प्रत्येक श्रमी की कार्य कुशलता का यथेष्ट उपयोग होता है। इन बातों से धनोत्पत्ति में खर्च कम होना स्पष्ट ही है। इसके अतिरिक्त श्रम विभाग की दशा में प्रत्येक व्यक्ति को केवल थोड़े से ही औज़ारों की आवश्यकता होती है, इनसे वह बराबर काम

लेता है। और, अवकाश के समय वह इनको अच्छी तरह संभाल कर रख भी सकता है। इसके विपरीत, जब एक आदमी को कई कार्य या एक कार्य के कई कई उपविभागों का काम करना होता है, तो उसे बहुत से औज़ारों की आवश्यकता होती है, किसी से वह कभी काम लेता है, और किसी से कभी। बहुत अधिक औज़ारों को संभाल कर रखना भी अपेक्षाकृत कठिन ही है। इससे सिद्ध होता है कि श्रम विभाग में औज़ारों की बचत होती है। पुनः श्रम विभाग में कच्चा माल भी खराब होने नहीं पाता। प्रत्येक श्रमी जिस सामान का उपयोग करता है, वह उसके उपयोग करने में काफी कुशल होता है, तथा नये नये आविष्कार इस बात के होते रहते हैं कि नया माल तैयार हो चुकने के उपरान्त जो वस्तु शेष बचे, उसका अन्य पदार्थ बनाने में किस तरह, क्या उपयोग हो। निदान, श्रम विभाग द्वारा नाना प्रकार से मितव्ययिता होती है।

सहयोग और सभ्यता की वृद्धि—समाज में सहयोग की आवश्यकता का अनुभव मनुष्य को चिरकाल से है। बहुत अधिक श्रम-साध्य कार्य के लिये, उदाहरणवत भारी बोझ को उठाने के लिये, आदमी मिल कर श्रम करते हैं; पुनः कोई व्यक्ति केवल अपनी बनायी वस्तुओं से अपना निर्वाह नहीं कर सकता; उसे दूसरों की बनायी हुई वस्तुओं की आवश्यकता होती है, और, उन्हें प्राप्त करने के लिये उसे उनको अपने श्रम का प्रतिफल देना होता है। इस प्रकार पारस्परिक सहयोग का प्रयोग तो पहले भी था। पर श्रम विभाग की प्रथा ज्यों ज्यों बढ़ती गयी, तथा विकसित और सूक्ष्म होती गयी, त्यों त्यों सहयोग का परिमाण तथा भावना भी बढ़ती गयी; कारण कि जैसा पहले कहा गया है, सूक्ष्म श्रम विभाग में प्रत्येक उपविभाग का कार्य अपूर्ण होता है, और विविध उपविभागों का कार्य मिल कर कार्य पूरा

होता है। विविध उपविभागों में लगे हुए श्रमजीवियों का सहयोग अप्रत्यक्ष होता है, पर इसमें एक एक उपविभाग में सहस्रों श्रमजीवी लगे होते हैं, और ये दूसरे उपविभाग में लगे हुए सहस्रों श्रमजीवियों के आश्रित रहते हैं। यदि एक उपविभाग के श्रमी बीमार या असंतुष्ट होने के कारण अपना काम छोड़ते हैं, तो उसका प्रभाव दूसरे उपविभागों में लगे हुए श्रमियों पर भी पड़ता है, सब को उसका परिणाम भुगतना होता है। पहले जब भिन्न भिन्न कार्य करने वाले व्यक्ति पूर्ण वस्तुएँ बनाते थे, तो उन पूर्ण वस्तुओं का एक दूसरे से अदल-बदल हो सकता था, पर अब जो सूक्ष्म श्रम विभाग से अपूर्ण वस्तुएँ बनती हैं, इनका अदल-बदल होना सहज नहीं है। इसी लिये सिक्के की आवश्यकता होने पर उसका आविष्कार एवं चलन हुआ। श्रम विभाग द्वारा वस्तुएँ सस्ती बनने पर बहुत से आदमी जो पहले उनका उपभोग नहीं करते थे, वे भी उनकी खपत करने लगे। लोगों की आवश्यकताएँ बढ़ीं, इससे रहन-सहन का दर्जा ऊँचा हुआ और सभ्यता बढ़ी। इस प्रकार श्रम विभाग सहयोग और सभ्यता की वृद्धि में सहायक होता है।

धनोत्पत्ति के परिमाण की वृद्धि—यद्यपि श्रम विभाग में प्रत्येक व्यक्ति कार्य का बहुत छोटा सा उपविभाग संभालता है, परन्तु उस उपविभाग में उसके श्रम का फल आश्चर्य-जनक होता है। पिन या सुई बनाने का काम आज कल दर्जनों उपविभागों में विभक्त है, परन्तु पहले जहाँ आदमी प्रति दिन केवल तीस चालीस पिन बना सकता था, और वे भी बहुत साफ सुन्दर नहीं, अब श्रम विभाग के द्वारा आधुनिक कल-कारखानों में इतने पिन बनते हैं कि प्रति व्यक्ति की दैनिक औसत हजारों पिन बनाने की होती है। कितनी अधिक वृद्धि है! इसी प्रकार अन्य कार्य का विचार किया जा सकता है। अस्तु, यह असंदिग्ध है कि श्रम

विभाग द्वारा अब पूर्वापेक्षा धनोत्पत्ति का परिमाण कहीं अधिक बढ़ गया है, उसमें आशातीत उन्नति हो रही है। उत्पन्न पदार्थों का परिमाण अधिक होने के साथ, वे बढ़िया होते हैं, कारण कि उनके निर्माण में, प्रत्येक उपविभाग का कार्य ऐसे श्रमियों द्वारा होता है, जो उसे करने के अधिक से अधिक उपयुक्त होते हैं। इसके अतिरिक्त उत्पत्ति अधिक परिमाण में होने से उसकी औसत लागत कम होती है, पदार्थ सस्ते होते हैं।

श्रम विभाग की हानियाँ—श्रम विभाग के लाभों का विचार हो चुका, अब इसकी हानियों पर विचार करते हैं। समाज की कोई प्रथा या रीति प्रायः विशुद्ध लाभदायक नहीं होती, बहुधा उसका दूसरा पहलू भी होता है। और, जब तक दोनों पहलुओं पर सम्यग् विचार न किया जाय, उसके विषय में कुछ निर्णायक मत देना उचित नहीं है।

नीरसता—श्रम विभाग के द्वारा बहुत-बहुत से श्रमियों को चिर काल तक कार्य के एक उपविभाग की क्रिया सम्पादन करने में लगा रहना पड़ता है। उदाहरणवत्, पिन बनाने के एक कारखाने में सैकड़ों हजारों आदमी महीनों और वर्षों अपना समय केवल पिनों की नोक ठीक करने में ही लगे रहते हैं। उनके रोज़मर्रा के कार्य में कोई विभिन्नता नहीं होती। उनका कार्य नीरस होता है। वे यंत्र की भाँति काम करते हैं। उनकी शारीरिक और मानसिक शक्तियों का कुछ विकास नहीं हो पाता। इसके विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि नीरसता इतनी नहीं है, जितनी मालूम होती है। और, जो थोड़ी बहुत नीरसता है तो उसके साथ यह लाभ भी है कि श्रमी अपने कार्य में निपुण हो जाता है, और इससे उसे बड़ा आनन्द प्राप्त होता है। श्रम विभाग में, श्रमियों का काम कम कष्ट या थकान वाला, तथा कम समय

का होता है। इस प्रकार उन्हें अपनी आजीविका-प्राप्ति सुगम हो जाती है। प्रतिदिन अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के प्रयत्न से निश्चिन्त होकर, वे अपना शेष समय अपनी उन्नति तथा मनोरंजन के विविध कार्यों में लगा सकते हैं। इस प्रकार, जीवन की नीरसता नहीं रहती, जो कार्य की नीरसता की अपेक्षा वास्तव में कहीं अधिक भयानक होता है।

बेकारी—प्रत्येक श्रमी को एक कार्य के छोटे से उपविभाग का ही कार्य करना पड़ता है, उसे उसी का अभ्यास होता है। यदि किसी कारण से उसका निर्धारित कार्य छूट जाय तो, उसकी कार्य क्षमता एक परिमित क्षेत्र तक ही परिमित होने से, उसे अन्यत्र काम मिलना सहज नहीं होता। इससे बेकारी की विकराल समस्या उपस्थित होती है, जो आधुनिक व्यवसायिक जगत का एक विशेष चिन्तनीय अभिशाप है।

परन्तु एक कार्य के भिन्न भिन्न उपविभागों का भेद इतना कम है, और प्रत्येक उपविभाग का कार्य इतना सरल है कि एक उपविभाग में कार्य करने वाला श्रमी दूसरे उपविभाग का कार्य जल्दी ही सीख सकता है। बेकारी के सम्बन्ध में यहाँ विशेष विचार नहीं किया जा सकता, परन्तु यह निश्चित है कि उसका मुख्य कारण यह नहीं है कि एक उपविभाग में कार्य करने वाला दूसरे उपविभाग का काम नहीं सीख सकता। निदान, बेकारी का उत्तरदायित्व श्रम विभाग पर कुछ विशेष नहीं है।

बुद्धि और निपुणता के उपयोग की कमी—प्रत्येक कार्य के उपविभागों की क्रियाएँ इतनी सरल हो गयी हैं, कि उनको करने के लिये विशेष बुद्धि या निपुणता की आवश्यकता नहीं रहती। अधिकतर कार्य अ-कुशल श्रमियों द्वारा हो जाता है, कुशल या निपुण श्रमियों का कार्य क्षेत्र घटता जाता है।

पहले कहा जा चुका है कि श्रम विभाग में प्रत्येक बाल वृद्ध, स्त्री पुरुष, दुर्बल सबल, कुशल अकुशल श्रमी को उसकी योग्यता या सामर्थ्य आदि के अनुसार कार्य मिलता है। यद्यपि बहुत से कार्यों के उपविभागों की क्रियाएँ बहुत सरल हैं, तथापि प्रत्येक कल कारखाने में कुछ काम ऐसा रहता ही है, जिसके सुसम्पादन के लिये विशेष योग्यता-सम्पन्न व्यक्तियों की आवश्यकता होती है। श्रम विभाग के कारण नये नये पदार्थों की उत्पत्ति के लिये नित्य नये कल-कारखाने खुलते रहते हैं, इस प्रकार बुद्धि तथा निपुणता के उपयोग के लिये क्षेत्र की कमी नहीं रहती।

स्वास्थ्य की हानि—श्रम विभाग के अनुसार काम करने वाले श्रमियों को दिन भर एक ही प्रकार का काम करना पड़ता है, किसी में उन्हें दिन भर एक स्थान पर एक निर्धारित रीति से बैठा रहना पड़ता है, किसी में उन्हें खड़ा ही रहना होता है, किसी में हाथ, पाँव, आँख आदि किसी एक कर्मेन्द्रिय का उपयोग अधिक करना पड़ता है, किसी में दूसरी का। इसका परिणाम यह है कि विशेष श्रम करने वालों में विशेष प्रकार के रोगों की वृद्धि होती है, और प्रायः सभी का स्वास्थ्य बहुत खराब होता है। पुनः श्रम विभाग का एक अप्रत्यक्ष फल यह होता है कि श्रमियों को सैकड़ों हजारों की संख्या में नगरों के पास घनी बस्ती में, तंग तथा मैली जगहों में रहना होता है, जहाँ मानसिक वातावरण भी अच्छा नहीं होता, सत्संग का अभाव रहता है। इससे उनका शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य बिगड़ता रहता है। और, अधिकतर श्रमजीवी बहुत से दुर्व्यसनों में फँस जाते हैं, तथा निकृष्ट कोटि का जीवन व्यतीत करते हैं।

इन बातों में सत्यांश अवश्य है। इनके सुधार का प्रयत्न हो रहा है, और अच्छी तरह से होना चाहिये।

श्रम विभाग का परिणाम—विचार करने पर विदित होता है कि श्रम विभाग पद्धति मनुष्य की चिरकालीन प्रगति और उन्नति का फल है। इससे श्रमी भारी और कष्ट-प्रद कार्य करने से बच जाते हैं, कार्य के बहुत से उपविभाग होते हैं, जो बहुत सुगम होते हैं, और उनमें मशीनों का उपयोग होने से श्रमी द्वारा किया जाने वाला कार्य बहुत ही कम कष्ट-साध्य रह जाता है। श्रमियों को अपनी सामर्थ्य और योग्यता के अनुसार काम मिलता है, इससे उनकी कार्य क्षमता का सम्यक् उपयोग होता है। उन्हें प्रति सप्ताह केवल ४८ से ६० घंटे तक श्रम करना होता है, इससे उन्हें अपनी शिक्षा, मनोरंजन और उन्नति के लिये बहुत समय मिलता है। ज्ञान, आविष्कारों और सभ्यता की वृद्धि होती है। और, धनोत्पत्ति अधिकाधिक होती जाती है।

अवश्य ही श्रम विभाग से कुछ हानियाँ भी हैं। उनका निवारण हो सकता है, कुछ अंश में उस दिशा में यथा-सम्भव प्रयत्न भी हो रहा है। पूर्वोक्त हानियाँ बहुत अधिक इसलिये मालूम होती हैं कि आज दिन अनेक स्थानों में श्रमियों का जीवन सुखमय नहीं है, उनको नाना प्रकार के कष्टों और असुविधाओं का सामना करना पड़ता है, उनसे तंग आकर वे बहुधा हड़ताल करने को उद्यत होते हैं, जिससे कुछ दशाओं में उनके कष्ट और भी बढ़ जाते हैं। परन्तु स्मरण रहे कि इसका कारण श्रम विभाग नहीं है, वरन् पूंजीपतियों का अति स्वार्थी तथा सबल या संगठित होना है।

दसवाँ अध्याय

पूँजी के भेद

—:*:—

पिछले अध्यायों में धनोत्पत्ति के दो साधनों का (भूमि और श्रम का) वर्णन किया जा चुका है। अब उसके तीसरे साधन अर्थात् पूँजी पर विचार किया जाता है। पहले यह जान लेना चाहिये कि पूँजी किसे कहते हैं।

पूँजी किसे कहते हैं—इस पुस्तक के आरम्भ में यह बताया जा चुका है कि धन किसे कहते हैं। धन का उपयोग दो तरह होता है, या तो वह हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति के काम में आता है, अथवा वह और अधिक धन पैदा करने में सहायक हो सकता है। यह दूसरे प्रकार का धन पूँजी कहलाता है। हाँ, इस धन में 'भूमि' की गणना नहीं होती, जो प्रकृति-दत्त है, जो मनुष्य को बिना श्रम प्राप्त होती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भूमि के अतिरिक्त जो धन और अधिक धन पैदा या तैयार करने में लगाया जाय, वह पूँजी है। इसे मूल धन भी कहा जाता है। इसके अन्तर्गत विविध वस्तुएँ सम्मिलित हैं, यथा कच्चा पदार्थ, श्रमियों के मकान, कार्यालय या कारखाने, औजार, यंत्र, कल, मशीन, श्रमियों को दिया जाने वाला वेतन (वह जिन्स में हो या नकद), किसानों के हल, बैल, बीज, अन्य पशु आदि जिन का और अधिक धन की उत्पत्ति में उपयोग हो।

साधारणतया आदमी पूँजी का अर्थ रुपया समझते हैं, परन्तु आज कल पूँजी में नकद रुपये का भाग बहुत कम होता है,

अधिकतर उसमें मकान मशीन आदि अन्य वस्तुएँ होती हैं, हाँ इन सब वस्तुओं का मूल्य रुपये में आंका जाता है।

धन और पूँजी—धन और पूंजी के अन्तर का उल्लेख ऊपर किया गया है। उससे विदित हो जाता है कि सब पूँजी तो धन होती है, परन्तु सब धन पूँजी नहीं होता। यह बात उदाहरण द्वारा स्पष्ट हो जायगी कि किस दशा में धन पूँजी हो जाता है, और किसमें नहीं होता। एक आदमी के पास कुछ अन्न है, अब यदि वह कुछ श्रम नहीं करता, और बेकार बैठा हुआ उसे खाता रहता है, या उसे दान धर्म में खर्च करता है, तो वह अन्न उसका धन ही है, पूँजी नहीं। परन्तु यदि वह इस अन्न का खर्च करते हुए धनोत्पादन में लगा है, श्रम करता है, या उस अन्न को बीज बोने, या कृषि आदि का कार्य करने वाले पशुओं को खिलाने में खर्च करता है, तो उसका अन्न, धन होने के अतिरिक्त, पूँजी भी है।

अब एक दूसरे प्रकार का उदाहरण लेते हैं। एक आदमी अपने संचित रुपये का स्वयं कुछ उपयोग नहीं करता, वह उसे दूसरे को व्याज पर दे देता है, इससे उसका रुपया बना रहता है, उसमें कुछ कमी नहीं होती; इसके अतिरिक्त वह रुपया व्याज के रूप में अपने स्वामी को कुछ धन-प्राप्ति कराता है, अर्थात् वह धनोत्पादन में काम आ रहा है। इसलिये यह रुपया उस आदमी की पूँजी है।

धनोत्पत्ति में पूँजी का स्थान—प्रारम्भ में, धनोत्पत्ति के मुख्य साधन भूमि और श्रम ही होते हैं। पूँजी से धनोत्पादन में सहायता मिलती है, किन्तु उसके बिना भी धनोत्पत्ति होना असम्भव नहीं है, हाँ, वह कम मात्रा में होगा। उदाहरणावत् एक आदमी जंगल में जाकर, लकड़ियाँ संग्रह करता है, कुल्हाड़ी

आदि न होने से वह पेड़ से लकड़ियाँ नहीं काट सकता, उसे उन्हीं पर संतोष करना पड़ता है, जो टूटी हुई पड़ी हैं, या जिन्हें वह अपने हाथ से तोड़ सकता है। फिर, उसके पास उनको बाँधने के लिये रस्सी तथा उनको ढोकर लाने के लिये गाड़ी या गधा आदि न होने से वह उतनी लकड़ी लाता है, जितनी वह अपने हाथों के सहारे ला सकता है। कुल्हाड़ी, रस्सी, गाड़ी या गधा आदि उसके लिये पूँजी हैं। इस पूंजी के अभाव से उसे धन पैदा करने में असुविधा होती है, तथा वह बहुत कम परिमाण में ही धन पैदा कर सकता है। इस उदाहरण में पूँजी उसकी धनोत्पत्ति में सहायक अवश्य है, परन्तु उत्पत्ति का मूल साधन न होकर गौण साधन है।

यह आरम्भ की बात हुई। क्रमशः धनोत्पत्ति में पूँजी का महत्व बढ़ता जाता है। पहले धनोत्पादन छोटी मात्रा में होता था, श्रमी स्वयं अकेला या अपने परिवार वालों की सहायता से काम करता था। उसमें साधारण थोड़े से औज़ारों (पूँजी) की आवश्यकता होती थी। अब धनोत्पत्ति बड़ी मात्रा में होती है। सहस्रों श्रमजीवी एक ही स्थान पर काम करते हैं, उनके लिये बहुत बड़े विशाल कार्यालय की जरूरत होती है जिसके बनाने में हज़ारों और कभी कभी लाखों रुपये लगते हैं। पुनः इस कार्यालय में साधारण औजारों से काम नहीं चलता, बहुत कीमती मशीनों की जरूरत होती है। काम करने वाले सहस्रों श्रमी अपने तौर से स्वतंत्र रूप से, श्रम नहीं करते। वे वेतन-भोगी होते हैं। उनके वेतन में प्रति मास (या प्रति सप्ताह) बहुत सा द्रव्य खर्च होता है। इन कारखानों में कच्चे माल के लिये भी काफी रुपया चाहिये। इस प्रकार बड़ी मात्रा की उत्पत्ति की भिन्न भिन्न मद्दों में बहुत द्रव्य की आवश्यकता होती है। वही व्यक्ति या व्यक्ति-समूह यह बड़ी मात्रा की उत्पत्ति कर

सकता है, जिसके पास काफी पूँजी हो। यह बात थोड़ी पूँजी वालों के बस की नहीं है। यदि ये लोग छोटी मात्रा की उत्पत्ति करके वैसा माल तैयार करने का प्रयत्न भी करें तो वह अपेक्षाकृत मँहगा होता है, और बड़ी पूँजी वालों द्वारा कारखानों में तैयार होने वाले माल से प्रतियोगिता नहीं कर सकता। इससे स्पष्ट है, आज कल धनोत्पादन में पूँजी का महत्त्व बहुत अधिक है। यही नहीं कि बिना पूँजी के धनोत्पादन नहीं हो सकता, वरन् जिसके पास पूँजी अधिक है, धनोत्पत्ति के क्षेत्र में वही सर्वेसर्वा होता है, वह उत्पत्ति के अन्य सब साधनों का स्वामी होता है, और छोटी पूँजी वालों को सहज ही आर्थिक दृष्टि से पराजित कर डालता है।

अनुत्पादक पूँजी—श्रम के प्रसंग में हमने उदाहरण देकर बतलाया है कि किसी ऐसे आयोजन के लिये किया हुआ श्रम जो विफल हो जाय, या जो किसी कारण विशेष से बीच में स्थगित करनी पड़े, अनुत्पादक हो जाता है। ऐसे आयोजन में लगी हुई पूँजी भी अनुत्पादक हो जाती है।

कभी कभी कोई मशीन ऐसी बिगड़ जाती है कि उसकी सहज ही मरम्मत नहीं हो सकती, अथवा उसकी मरम्मत में इतना रुपया लगाने की ज़रूरत होती है, कि उसकी अपेक्षा नयी मशीन मोल लेना ही अच्छा समझा जाता है। इसी प्रकार कोई नया आविष्कार हो जाने से बहुधा ऐसी अच्छी, बढ़िया, या अधिक उत्पादक मशीन बन जाती है कि पुरानी मशीन से काम लेना बहुत व्यय-साध्य प्रतीत होता है, उससे काम लेना छोड़ दिया जाता है। अस्तु, उपर्युक्त पुरानी मशीनों को बहुधा नाममात्र के मूल्य पर बेच दिया जाता है, इनका जो भी दाम उठे, उठा लिया जाता है। इस दशा में जिस सीमा तक इनका मूल्य कम उठता है ये मशीनें अनुत्पादक कही जा सकती हैं।

पूँजी के भेद—कोई धन पूंजो है, या नहीं, यह अवस्था विशेष पर निर्भर है। धन का वही भाग एक दशा में पूँजी हो सकता है, और दूसरी दशा में नहीं भो हो सकता। इसमें विचार यह करना होता है कि उसका उपयोग और अधिक धनोत्पत्ति के लिये किया जाता है या नहीं। पूंजो के भेद भी उसके उपयोग के दृष्टि-कोण के अनुसार भिन्न भिन्न होते हैं। विविध लेखकों ने अलग अलग तरह से उसका वर्गीकरण किया है। हम यहाँ पूँजी के मुख्य और महत्त्व-पूर्ण भेदों का ही विचार करते हैं। पहले चल और अचल पूँजी की बात लेते हैं; स्मरण रहे कि इन शब्दों का, सापेक्षिक अर्थात् तुलनात्मक दृष्टि से ही प्रयोग किया जाता है, इनका कोई निरपेक्ष या वास्तविक अर्थ नहीं है।

चल और अचल पूँजी—जो पूँजी धनोत्पादन में बहुत दिन काम नहीं आती, एक ही बार के उपयोग में, थोड़े ही समय में, खर्च हो जाती है, वह चल पूंजी कहलाती है। खेती में जो बीज काम में आता है, पूर्णतया खर्च हो जाता है, फिर दूसरी बार उसका उपयोग नहीं हो सकता। इसी प्रकार मजदूरों को दिये जाने वाले वेतन, कल-कारखानों में काम आने वाले कच्चे माल, तथा कोयले आदि की बात है। यह चल पूँजी है, इसे अस्थायी या जंगम पूँजी भी कहते हैं।

इस पूँजी का बदला या प्रतिफल जल्दी और एक साथ ही मिल जाता है। इसलिये इसको लगाने वाला भली भांति विचार कर लेता है कि प्रतिफल इससे अधिक मूल्य का मिले, तभी इसका उपयोग किया जाय। बीज तभी बोया जाता है, जब उससे अधिक पैदावार होने की आशा होती है। मजदूरों को वेतन देते समय इस बात का विचार किया जाता है, कि उनसे जो काम हुआ है, उसका मूल्य उनके वेतन से किसी प्रकार कम न रहे।

जो पूँजी बहुत समय तक काम आती रहती है, एक ही बार के उपयोग में खर्च नहीं हो जाती, उसे अचल पूँजी कहते हैं। किसान के बैल बार-बार कई वर्षों तक खेतों के काम में आते हैं; व्यवसाय-पति कारखाने के लिये जो इमारतें बनवाता है, उनमें चिरकाल तक धनोत्पादन की क्रिया होती रहती है, रेलों की पटरी एक बार लगा दी जाने पर, मुद्दत के लिये उसमें निश्चिन्तता हो जाती है। मशीन, औज़ार, जहाजों आदि की भी यही बात है। इस प्रकार की पूँजी, अचल पूँजी कहलाती है, इसे स्थायी, स्थिर या स्थावर पूँजी भी कहते हैं। स्मरण रहे कि स्थिति-भेद से चल पूँजी अचल पूँजी हो सकती है। कल्पना करो, एक कारखाने में आटा पीसने, सूत कातने या कपड़ा बुनने की मशीन बनती हैं। ये मशीनें उस कारखाने के लिये चल पूँजी हैं, वह इनका उपयोग एक ही बार कर सकता है, उन्हें बेचने पर उस कारखाने वालों को उनकी कीमत मिल जायगी। परन्तु जो व्यक्ति इन मशीनों को मोल लेकर आटा पीसने, या सूत कातने या कपड़ा बुनने का काम करेगा, उसके लिये ये मशीनें बहुत समय तक धनोत्पत्ति का काम करेंगी, अतः उसकी दृष्टि से ये अचल पूँजी होंगी।

अचल पूँजी का बदला देर में मिलता है। जब तक उसका उपयोग होता रहता है, तब तक धीरे धीरे उसकी लागत तथा उससे होने वाला लाभ वसूल होता रहता है। इस पूँजी के लगाने वाले को लाभ के लिये बहुत समय तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है। इसमें चल पूँजी की अपेक्षा लाभ भी प्रायः अधिक होता है। परन्तु वह बहुत समय में होता है, इसलिये इस पूँजी को लगाने से पूर्व यह विचार किया जाता है, कि यह पूँजी कितने समय तक काम देगी, और उस समय तक इसमें कितना लाभ होगा।

अचल पूँजी बढ़ने की प्रवृत्ति—कृषि हो या कोई उद्योग-धंधा, सभी में कुछ आवश्यकता चल पूँजी की होती है, तो कुछ अचल पूँजी की। हाँ, औद्योगिक कार्यों में अचल पूँजी अधिक लगाने, अथवा चल पूँजी को सुविधानुसार क्रमशः अचल पूँजी में बदलने की प्रवृत्ति बहुत अधिक होती जाती है। पहले एक कार्य या उसके किसी उपविभाग की क्रिया श्रमियों द्वारा होती है, इसमें श्रमियों को दिये जाने वाले वेतन में चल पूँजी लगती है। क्रमशः यह विचार किया जाता है कि किस प्रकार उक्त कार्य या उसके उपविभाग की क्रिया मशीन द्वारा होने लगे, इसमें एक बार इकट्ठी ही पूँजी लग जाय, और श्रमियों की आवश्यकता न रहे अथवा वह बहुत कम हो जाय, जिससे उनके वेतन में दी जाने वाली पूँजी या उस का अधिकांश भाग मशीन रूपी अचल पूँजी में बदल जाय। इस परिवर्तन से उक्त कार्य में श्रमियों की माँग कम हो जाती है, उनमें खासी संख्या बेकार हो जाती है, हाँ, कुछ समय बाद इनमें से कुछ मज़दूर उसी प्रकार के किसी अन्य काम में लग जाते हैं।

भौतिक और वैयक्तिक पूँजी—कुछ लेखक पूँजी के दो भेद भौतिक और वैयक्तिक करते हैं। उनके मतानुसार भौतिक पूँजी में वह पदार्थ हैं, जो स्थूल रूप में विद्यमान हों, और जो एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को दिये जा सकें, अर्थात् विनिमय-साध्य हों। इसके विपरीत, वैयक्तिक पूँजी में व्यक्ति की योग्यता, शिक्षा, सामर्थ्य आदि ऐसे गुणों का समावेश है, जिनसे मनुष्य कार्य-कुशल होता हो। ये गुण विनिमय-साध्य नहीं होते, हाँ, इनमें बहुधा बड़ी पूँजी लगी होती है, व्यक्ति की दृष्टि से एवं समाज की दृष्टि से इनका बड़ा महत्व है। व्यक्ति को इन गुणों के कारण अपनी आय बढ़ाने में सहायता मिलती है, समाज के लिये

शिक्षित और योग्य व्यक्तियों का महत्व सर्व-मान्य है। तथापि इन गुणों के मूल्य के परिमाण का अनुमान नहीं लगाया जा सकता, तथा व्यक्ति के मर जाने पर इनका नाश हो जाता है। विनिमय-साध्य न होने के कारण, अर्थशास्त्र में प्रायः इनका पूँजी में समावेश नहीं किया जाता।

उत्पत्ति और उपभोग पूँजी—यद्यपि सभी पूँजी उत्पत्ति में सहायक होती है, तथापि पूँजी के दो भेद उत्पत्ति-पूँजी* और उपभोग-पूँजी† किये जा सकते हैं। उत्पत्ति-पूँजी में उन पदार्थों की गणना होती है, जिनसे वास्तव में अन्य वस्तुओं की उत्पत्ति होती है। उदाहरणवत् औजार, मशीन और कच्चे पदार्थ। कुछ लेखक उत्पत्ति-पूँजी को व्यापार-पूँजी‡ भी कहते हैं, परन्तु जैसा कि मार्शल ने कहा है, व्यापार-पूँजी में वे सभी पदार्थ आ जाते हैं जो कोई व्यक्ति व्यापार के लिये काम में लाता है, उदाहरणार्थ बिक्री के लिये रखी हुई चीजें, तथा श्रमियों का भोजन आदि भी व्यापार-पूँजी के अन्तर्गत हैं।

उत्पत्ति पूँजी के विपरीत, उपभोग-पूँजी में उन पदार्थों की गणना होती है, जो परोक्ष रूप में तो उत्पत्ति में सहायक होते हैं, परन्तु प्रत्यक्ष रूप में उपभोग किये जाकर, आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं; जैसे श्रमियों को दिये जाने वाले या श्रमियों के भोजन वस्त्र या इस मद में खर्च होने वाला द्रव्य।

प्रत्येक उद्योग धन्धे में उत्पत्ति-पूँजी, तथा उपभोग-पूँजी दोनों की आवश्यकता होती है, हाँ, इन दोनों का अनुपात उद्योग धन्धे की अवस्था या परिस्थिति अथवा नवीन आविष्कारों

---

* Production Capital.

† Consumption Capital.

‡ Trade Capital.

के अनुसार बदलता रहता है। उन्नतिशील देशों में धन की वृद्धि और वितरण के परिणाम-स्वरूप उपभोग पूँजी की मात्रा तथा भेद बढ़ते जाते हैं। जो आदमी अधिक कमाते हैं, वे भोजन वस्त्र तथा मकान और उसके सामान आदि पर अधिक खर्च करते हैं।

वेतन पूँजी और सहायक पूँजी—वेतन पूँजी* वह है जो उत्पादन कार्य में लगे हुए श्रमियों को, उनके श्रम के प्रतिफल-स्वरूप दी जाय। इसे छोड़ कर, किसी काम में लगी हुई सब शेष पूँजी सहायक† या साधक‡ पूँजी कहलाती है।

जैसा कि चल और अचल पूँजी के सम्बन्ध में कहा गया है, व्यवसाय-पतियों की यह इच्छा रहती है, कि उद्योग धन्धे में अधिक से अधिक मितव्ययिता हो। इसलिये वे मनुष्यों के अपेक्षाकृत मँहगे श्रम को हटा कर, उस श्रम का काम मशीनों से लेने की बात सोचते रहते हैं। इस प्रकार सहायक पूँजी का परिमाण क्रमशः बढ़ता रहता है, और वेतन-पूँजी घटती जाती है। हाँ, नये नये कार्यों के आरम्भ होने पर उनमें वेतन-पूँजी की भी आवश्यकता होती है, तथापि आधुनिक काल में कुल मिला कर सहायक पूँजी की अपेक्षा वेतन-पूँजी घटने की ही प्रवृत्ति है।

व्यक्तिगत, सार्वजनिक, और राष्ट्रीय पूँजी—पूँजी का व्यक्तिगत, सार्वजनिक और राष्ट्रीय दृष्टि से भी विचार किया जा सकता है। व्यक्तिगत पूँजी वह है जिस पर पूर्णतया अथवा अंशतः व्यक्ति विशेष का अधिकार हो, उदाहरणवत् किसी व्यक्ति

* Wage Capital.

† Remunerative.

‡ Instrumental.

की खरीदी हुई, या अपने खर्च से बनवायी हुई दुकान तथा उसका सामान उसकी व्यक्तिगत पूँजी है। इसके विपरीत, सार्वजनिक या सामाजिक पूँजी वह है, जो समाज या जनता की हो, उदाहरणवत् धर्मशाला, अनाथालय, स्कूल, और विविध-सरकारी कार्यालयों की इमारतें आदि। राष्ट्रीय पूँजी के अन्तर्गत राष्ट्र की समस्त पूँजी की गणना होती है; इस प्रकार यह पूँजी राष्ट्र के सब व्यक्तियों की, तथा सार्वजनिक पूँजी का योगफल होती है।

जिस पूँजी पर दो या अधिक राष्ट्रों का स्वामित्व हो, उसे अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी कह सकते हैं। उदाहरणार्थ ऐसी नहर, या रेलवे लाइन जो दो या अधिक राष्ट्र मिल कर बनायें, या ऐसे समुद्र-भाग जिनमें दो या अधिक राष्ट्रों को अधिकार प्राप्त है, अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी कहे जा सकते हैं।

पूँजी के लक्षण—'भूमि' के अध्याय में, भूमि और पूँजी के लक्षणों की, और श्रम के अध्याय में श्रम और पूँजी के लक्षणों की, तुलना विस्तार से की जा चुकी है, यहाँ उन सब बातों को दोहराना अभीष्ट नहीं है, अतः संक्षेप में ही उनका उल्लेख किया जाता है। चल पूँजी गतिशील होती है, वह आवश्यकतानुसार घटायी बढ़ायी जा सकती है; अचल पूँजी स्थिर होती है, उसका परिमाण प्रायः परिमित होता है, सहसा घटाया बढ़ाया नहीं जा सकता। पूँजी भूमि की तरह एक निष्क्रिय साधन है, उससे श्रम का (एवं भूमि का) सहयोग प्राप्त किये बिना किसी प्रकार की धनोत्पत्ति नहीं हो सकती। पूँजी प्रकृति-दत्त पदार्थ नहीं है, जैसे कि भूमि है; वह श्रम का फल है। पूँजी, भूमि की तरह, अमर नहीं है, वरन् वह नाशमान है। चल पूँजी का तो ह्रास शीघ्र हो ही जाता है, अचल पूँजी अर्थात् मकान और मशीनों का भी थोड़ा बहुत ह्रास होता ही

रहता है, और यदि उनकी बराबर देख-भाल, मरम्मत या सुधार न होता रहे तो वे टूट-फूट, घिसावट या अन्य प्रकार से बेकाम हो जायँ; अग्नि, भूकम्प या बाढ़ आदि से तो अचल पूँजी भी बहुत जल्दी ही नष्ट हो जाती है।

पूँजी के उपर्युक्त भेदों पर विचार कर चुकने पर अब हम कृषी-पूँजी, व्यवसाय-पूँजी, तथा सरकारी पूँजी के सम्बन्ध में संक्षेप से लिखते हैं।

कृषि-पूँजी—यद्यपि कृषि-प्रधान देशों की अधिकतर पूँजी कृषी-सम्बन्धी ही हुआ करती है। अलग अलग किसानों की पूँजी प्रायः कम ही होती है, उन्हें बोने के लिये बीज और खेत में डालने के लिये खाद के अतिरिक्त हल, बैल, खुर्पी, पानी खींचने के चरसे या रहट का सामान, तथा अपने खाने के लिये अन्न आदि की आवश्यकता होती है। परन्तु अधिकतर किसानों की आर्थिक दशा ऐसी हीन होती है कि उन के पास यह पूँजी बहुत कम परिमाण में होती है। अनेक किसानों के पास अपने बैल (घोड़े या भैंसे) नहीं होते, दूसरों से माँग कर लेने होते हैं। कितने ही किसानों के पास बीज अथवा अपने खाने का अन्न भी नहीं होता, उसे खरीदने के लिये उन्हें भारी ऋण लेना होता है, और वे आजन्म ऋण-ग्रस्त बने रहते हैं।

किसानों की अन्यान्य पूँजी में पशुओं का विशेष स्थान है। उदाहरणार्थ बैल खेतों में हल चलाते हैं, तथा माल ढोते हैं, गाय भैंस दूध देती हैं, जिससे दही, घी, मक्खन, मठा (छाछ) आदि बनती हैं। इनका गोबर खाद के लिये अत्युपयोगी है। इस प्रकार कृषि-प्रधान और अनौद्योगिक देशों के लिये पशुओं का बड़ा महत्व है। परन्तु भारतवर्ष आदि कितने ही देश,

पशुओं की दृष्टि से बहुत निर्धन हैं। वहाँ प्रति व्यक्ति अन्य देशों की अपेक्षा, पशुओं की संख्या बहुत कम है, तथा उनके लिये स्वच्छ जल, तथा अच्छे चारे की व्यवस्था नहीं है, उनके रोगों का इलाज करने और उनकी नस्ल सुधारने के भी यथेष्ट उपाय काम में नहीं लाये जाते। चारे के सुप्रबन्ध के लिये स्थान स्थान पर काफी चरागाह नहीं। भारतवर्ष में खेती अधिकतर बैलों से होती है, इसलिये गाय बहुत आदरणीय मानी जाती है, परन्तु उसकी व्यावहारिक तथा आर्थिक दृष्टि से रक्षा बहुत कम की जाती है। बहुत सी गायें दूध बहुत कम देती हैं, और अत्यल्प मूल्य में बिकने से चमड़े या मांस के लिये मारी जाती हैं। इसका परिणाम खेती के लिये तो हानिकर होता ही है, इसके अतिरिक्त, कृषक परिवारों को भी यथेष्ट दूध, दही आदि न मिलने से उनका स्वास्थ्य बहुत खराब रहता है; और, वे अल्पायु होते हैं। इन बातों पर आर्थिक दृष्टि से सम्यग् विचार होने की आवश्यकता है। विस्तार-भय से हम यहाँ केवल संकेत मात्र कर सके हैं।

व्यवसाय पूँजी—प्रत्येक उद्योग धन्धे और व्यवसाय के लिये पूँजी की आवश्यकता होती है। और, जब व्यवसाय करने वाले के पास अपनी पूँजी काफी नहीं होती, वह या तो दूसरे पूँजीवाले को उस काम में साझीदार बनाता है, जिससे उसकी भी पूँजी उक्त व्यवसाय में लग जाय, अथवा जब दूसरा कोई व्यक्ति उस व्यवसाय से होने वाले हानि-लाभ में भागीदार होने वाला नहीं मिलता, तो भिन्न भिन्न व्यक्तियों से उसे ऋण लेना पड़ता है। आजकल तो व्यवसाय-कार्य बड़े पैमाने पर होता है। आधुनिक कल कारखानों में पर्याप्त पूँजी लगाना बहुधा एक आदमी के वश का होता ही नहीं। इसलिये बहुत से आदमियों की थोड़ी थोड़ी पूँजी मिला कर, मिश्रित पूँजी की

कम्पनियाँ स्थापित की जाती हैं। इनमें प्रायः आवश्यक पूँजी के लिये, सौ सौ या हज़ार हज़ार रुपये के हिस्से (शेयर) निकाल दिये जाते हैं। कोई व्यक्ति अपनी सामर्थ के अनुसार एक या अधिक हिस्सा खरीद लेता है। इन कम्पनियों का काम अच्छी तरह चल निकलने पर, इनमें मुनाफे की मात्रा अधिक होने पर इनके हिस्सों का मूल्य बाजार में बढ़ जाता है, बहुधा सौ सौ रुपये का हिस्सा कई कई सौ रुपये में बिकने लगता है। इसी तरह प्रतिकूल अवस्था में इनका मूल्य काफी गिर भी जाता है।

जब इन कम्पनियों को अपने हिस्सों द्वारा प्राप्त पूँजी से अधिक की आवश्यकता होती है, तो ये ऋण भी ले लेती हैं। प्रायः इन कम्पनियों की साख अच्छी होने से, उन्हें रुपया अपेक्षाकृत कम सूद पर मिल जाता है।

सरकारी पूँजी—सरकार को साधारणतया तो विविध करों, शुल्कों या जुरमाने आदि से जो आय होती है, उसी से उसका काम चलता रहता है, परन्तु कुछ विशेष दशाओं में इसके अतिरिक्त और भी धन की आवश्यकता होती है, उदाहरणवत् जब किसी ख़ास कारण से राज्य को अपने अनुमान से कम आय हो, जब राज्य को किसी युद्ध में भाग लेना पड़े, अथवा जब उसे कोई बड़े व्यवसाय कार्य करने हो, जिनमें बहुत पूँजी लगे। ऐसी अवस्था में राज्य ऋण लेता है। कभी कभी यह ऋण कुछ खास खास व्यक्तियों से न लेकर सर्व साधारण से लिया जाता है। उदाहरणवत सरकार दस दस, सौ सौ या हज़ार हज़ार रुपये के केश सार्टीफिकट निकालती है, जिनमें यह लिखा रहता है कि उनकी तत्कालीन कीमत क्या है, उनका रुपया कितने समय बाद चुकाया जायगा, और उस समय व्याज मिला कर उनकी पूरी कीमत क्या होगी। अन्य सरकारी ऋण-पत्रों

में उनका अंकित मूल्य और व्याज की दर लिखी रहती है। कभी कभी सरकार ऋण का भुगतान न करके, उसे दूसरे ऋण में बदल देती है।

साधारणतया व्यक्तियों की अपेक्षा राज्य की साख अधिक अच्छी होती है, इसलिये उसे रुपया सुगमता से तथा अपेक्षाकृत कम सूद पर मिल जाता है। किसी राज्य को दूसरे राज्य के पूँजीपति, तथा विदेशी सरकारें भी ऋण देने को उत्सुक रहती हैं, क्योंकि इससे उन्हें सूद के अतिरिक्त कुछ अन्य व्यापार आदि के विशेष अधिकार पाने की आशा रहती है। पराधीन देशों को तो उन पर राज्य करने वाले ही प्रायः काफी ऋण देते रहते हैं, जिससे पराधीन देश चिरकाल तक उनका ऋणी बना रहे, और इस आधार पर, शासक राज्य को उस पर अपना प्रभुत्व बनाये रखने का निमित्त मिलता रहे।

यह बात ठीक है कि यदि कोई व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का उधार लिया हुआ रुपया न चुकावे तो ऋणदाता या साहूकार उसकी जायदाद आदि पर दावा कर सकता है, परन्तु यदि सरकार अपनी प्रजा के आदमियों से लिया हुआ कर्ज़ न चुकावे तो कोई उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकता। तथापि साधारणतया सरकार को अपनी साख बनायी रखने की फिकर रहती है, और इसलिये वह यथा-सम्भव निर्धारित समय पर अपना कर्ज़ चुका देने की पूर्ण व्यवस्था करती है। अन्य देशों का रुपया चुकाने में उसे अपनी साख बनाये रखने के अतिरिक्त यह भी सोचना पड़ता है, कि रुपया न चुकाने की दशा में अन्य राज्य उससे युद्ध ठान सकते हैं, अथवा उसके साथ होने वाले व्यापार को बन्द कर के उसे आर्थिक हानि पहुँचा सकते हैं।

कभी कभी, परन्तु बहुत ही कम दशाओं में, ऐसा भी होता है कि जिस प्रकार कोई व्यक्ति या संस्था अपना दिवाला निकाल

देती है, उसी तरह सरकार भी अन्य राज्यों का रुपया देने से इनकार कर देती है, और इसके परिणाम-स्वरूप आने वाली विविध कठिनाइयों को सहन करने के लिये उद्यत हो जाती है।

देशी विदेशी पूँजी—अब तनिक देशी विदेशी पूँजी का भी विचार करते हैं। धनोत्पत्ति जितनी अधिक करने का विचार होगा, उतनी ही अधिक पूँजी को आवश्यकता होगी। जब आवश्यक पूँजी देश में न मिल सके तो विदेशी पूँजी का भी उपयोग करना बुरा नहीं। परन्तु इसमें में यह बात ध्यान रखने की है कि विदेशी पूँजी के साथ, विदेशी पूँजीपति, या उनका अत्यधिक प्रभाव न आ जाय। विदेशी पूँजी उधार लेते समय, उसके सम्बन्ध में होने वाली शर्तों के विषय में खूब सतर्क रहने को जरूरत है।

प्रायः किसी देश के व्यक्तियों या संस्थाओं को तो विदेशी पूँजीपति बहुत कम ही रुपया उधार देते हैं। विदेशी पूँजी अधिकतर सरकार को ही उधार मिलती है, अथवा विदेशी पूँजीपति धनोत्पत्ति आदि का प्रलोभन देकर सरकार से नये नये कल कारखाने खोलने की अनुमति लेते हैं। इस दूसरी दशा में यदि यथेष्ट सावधानी न बर्ती जाय तो बहुत अनिष्ट की आशंका होती है; कारण, ये लोग प्रायः सस्ती मज़दूरी और सस्ते कच्चे माल का पूरा लाभ उठा कर देश के शोषण में सहायक होते हैं, ये केवल पूँजी का सूद ही नहीं लेते, वरन् व्यवसाय से होने वाला सब मुनाफा भी लेते हैं। इसके अतिरिक्त, ये देश में समय समय पर विविध प्रकार के विशेष राजनैतिक तथा आर्थिक अधिकार पाने के आन्दोलन करते हैं। इससे देश को दोहरी हानि होती है। अमरीका के भूत-पूर्व राष्ट्रपति विलसन का कथन है कि जितनी ही विदेशी पूँजी देश में आकर लगती और रहती है, उतना ही विदेशियों का प्रभाव बढ़ता

रहता है। पूँजी की चालें विजय की चालें हैं। अतः जहाँ तक हो सके, देश में धनोत्पादन की वृद्धि के लिये, यथा-सम्भव देशी पूँजी का ही प्रयोग किया जाना चाहिये।

ग्यारहवाँ अध्याय

पूँजी की वृद्धि

—:*:—

पिछले अध्याय में यह बताया जा चुका है कि पूँजी किसे कहते हैं, और उसके कौन कौन से भेद हैं। अब हम पूँजी की उत्पत्ति और वृद्धि का विचार करते हैं। स्मरण रहे कि पूँजी भूतकालीन श्रम का फल है, क्योंकि जैसा पहले कहा जा चुका है, सब पूँजी धन अवश्य होती है, और धन बिना श्रम के उत्पन्न नहीं होता। परन्तु धन की उत्पत्ति से ही क्या होगा, यदि जितना धन उत्पन्न किया जाय, उतना ही साथ साथ खर्च भी किया जाता रहे। जब तक धन के किसी भाग को और अधिक धन पैदा करने के लिये संचित करके न रखा जाय, वह धन पूँजी नहीं होता। परन्तु ऐसा करने में वर्तमान उपभोग का सुख भविष्य के लिये स्थगित करना होता है। साधारणतया आदमी को भविष्य का विशेष विचार नहीं होता, वह सोचता है कि जो कुछ मिलता है, इसका अभी उपभोग कर लिया जाय, न-मालूम भविष्य में इसे उपभोग करने का अवसर मिले या न मिले।

पूँजी की उत्पत्ति और वृद्धि किन बातों पर निर्भर है?—अब हम यह विचार करते हैं कि पूँजी की उत्पत्ति और

वृद्धि किन किन बातों पर निर्भर है। इस प्रसंग में निम्न लिखित बातें विचारणीय हैं :—

१—संचय करने की शक्ति

२—संचय करने की इच्छा

३—संचय करने की सुविधा

जैसा कि आगे विदित होगा, शिक्षा, सभ्यता, शान्ति और सुव्यवस्था आदि के प्रचार और वृद्धि इन बातों में सहायता मिलती है।

संचय करने की शक्ति—एक आदमी जो धन पैदा करता है, उसे उत्पादन काल में अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये धन की आवश्यकता होती है। यदि वह जितना पैदा करे, उतना ही ख़र्च हो जाय तो संचय नहीं हो सकता, इस प्रकार संचय के लिये आवश्यक है कि उत्पत्ति उपभोग से अधिक हो। उपभोग सोच विचार कर करने से बहुत किफायत हो सकती है। उत्पत्ति का अधिक होना उत्पत्ति के विविध साधनों तथा विधियों की कुशलता और श्रेष्ठता पर निर्भर है। तथापि यह स्पष्ट है कि यदि उत्पत्ति इतनी ही होती है, जितनी जीवन-निर्वाह के लिये अत्यन्त आवश्यक है, तो संचय नहीं हो सकता। इस दशा में यही कहा जायगा कि उस मनुष्य में संचय की शक्ति नहीं हैं।

संचय-शक्ति बढ़ाने के लिये धनोत्पत्ति के साधनों की अधिकतम उन्नति की जानी चाहिये। उसके अतिरिक्त विदेशी व्यापार से भी उसमें सहायता मिलती है। किस प्रकार का विदेशी व्यापार किस देश की आर्थिक अवस्था को सुधारने वाला होता है, इसका विशेष विचार करने का यहाँ प्रसंग नहीं है। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि जब तैयार माल की निर्यात की जाती है, और व्यापार स्वदेश के आदमियों द्वारा, और उनकी

पूँजी तथा जहाज़ों से होता है तो वह अधिक लाभकारी होता है। साख की वृद्धि, बैंकों से, बीमा-कम्पनियों, और साझेदारी के व्यवसायों से होती है। मुद्रा की स्थिरता तथा निर्दोषिता आदि से भी संचय की शक्ति बढ़ती है। आमेदरफ़ और याता-यात के साधनों—रेल जहाज़, तार डाक आदि की उन्नति और वृद्धि भी संचय शक्ति बढ़ाने में सहायक होती है।

संचय करने की इच्छा—संचय के लिये शक्ति के अति-रिक्त, इच्छा भी तो चाहिये। बहुत से आदमी निर्धन होने पर भी कुछ न कुछ द्रव्य मद्यपान आदि में खर्च करते रहते हैं। इस से प्रतीत होता है कि इन में संचय करने की इच्छा नहीं है, यदि ये चाहें तो थोड़ा थोड़ा संचय करके, क्रमशः अपनी पूँजी बढ़ा सकते हैं। कितने ही आदमी ऐसे होते हैं कि उन्हें अपनी आय से खाने पीने के लिये साधारण अच्छी सामग्री प्राप्त होती है, रहने के लिये अच्छा मकान भी है, मनोरंजन आदि के भी सामान हैं, फिर भी यदि इनकी आय बढ़ जाय तो उसी अनुपात में अपनी सब आय को खर्च कर डालेंगे, और इनके पास कुछ संचय न होगा। इसका कारण यही है कि इनमें संचय की इच्छा का अभाव है।

दूरदर्शिता—संचय करने की इच्छा बहुत कुछ मनुष्य की व्यक्तिगत भावनाओं या विचारों पर निर्भर है; उदाहरणवत् मनुष्य में अपनी तथा अपने परिवार की रक्षा की भावना स्वभावतः होती है। इससे उसे दूरदर्शी होने की प्रेरणा होती है। दूरदर्शिता अधिक होने से आदमी अपनी बीमारी, बेकारी, या वृद्धावस्था आदि के समय के लिये पहले से संचय करके रखता है, जिससे उस समय भी उसका तथा उसके बाल बच्चों आदि का जीवन-निर्वाह ठीक तरह हो सके, विशेष कठिनाई उपस्थित न हो।

यदि राज्य में माल या जायदाद पर व्यक्तियों का अधिकार न माना जाय, अर्थात् उन्हें यह अधिकार न हो कि वे मरने पर अपनी संचित सम्पत्ति को विरासत के रूप में अपने उत्तराधिकारियों के लिये छोड़ सकें तो लोगों की धन संचय करने की इच्छा स्वभावतः कम हो जायगी, क्योंकि संचय के लिये पूर्वोक्त प्रेरक हेतु का अभाव होगा। इसी प्रकार, यदि मृत्यु-कर का परिमाण बहुत अधिक हो, और उसके कारण वारिसों को मिलने वाली सम्पत्ति में काफी कमी होती हो, तो उसका भी संचय के परिमाण पर प्रभाव पड़ेगा, लोगों की संचय की इच्छा कम रह जायगी। मृत्यु-कर थोड़े बहुत परिमाण में अनेक देशों में प्रचलित है। जायदाद पर व्यक्तियों का अधिकार न माने जाने की बात रूस में ही है। वहाँ किसी व्यक्ति को उसके पिता की सम्पत्ति का बहुत अल्प भाग ही मिलता है। परन्तु वहाँ राज्य द्वारा इतना धनोत्पादन किया जाता है, और उसका व्यक्तियों में इस प्रकार वितरण होता है कि किसी को अपनी साधारण आवश्यकताओं से वंचित नहीं रहना पड़ता। वहाँ व्यक्तिगत सम्पत्ति विशेष न होते हुए भी राष्ट्रीय सम्पत्ति काफी मात्रा में विद्यमान है।

सम्मान की इच्छा—मनुष्य में अपनी जाति बिरादरी या समाज में सम्मान पाने की भी बहुत इच्छा होती है। जब समाज में धनवानों का विशेष आदर होने लगता है (जैसा कि आज कल प्रायः सर्वत्र पाया जाता है), तो मनुष्य की संचय की प्रेरणा और भी बढ़ जाती है। आज कल अनेक आदमियों की यह इच्छा रहती है कि हमारी माली हालत हमारे पिता, या पितामह की अपेक्षा अच्छी हो, जिससे जाति में हमारा सम्मान और अधिक हो। इस प्रकार विविध व्यक्तियों में अपने पूर्वजों की अपेक्षा अधिक धनवान बनने की इच्छा से संचय की प्रेरणा होती है और वे इसके लिये प्रयत्न करते हैं।

हाँ, इसमें अति होने से समाज को अन्य प्रकार से बहुत हानि भी होती है। जब समाज में द्रव्य का इतना अधिक मान होने लगता है, कि धनवान के गुण दुर्गुण का विचार नहीं किया जाता तो साधारण व्यक्ति संचय करने के लिये भले बुरे सब प्रकार के उपाय काम में लाने लगते हैं। छल कपट, दुर्बलों के शोषण, रिश्वतखोरी, दगाबाज़ी, बेईमानी के नये नये ढंग निकलने लगते हैं, और राष्ट्र का नैतिक पतन हो जाता है। अथवा, कुछ आदमी बहुत अधिक कंजूसी करने लगते हैं, यहाँ तक कि अपने स्वास्थ तथा अपने बालकों की शिक्षा और पौष्टिक भोजन आदि के साधन प्राप्त करने में भी समुचित खर्च नहीं करते, और संचय का परिमाण बढ़ाने पर तुले रहते हैं। यों तो किसी किसी व्यक्ति में स्वभाव से भी कंजूसी का भाव होता है, पर समाज में धन की क़द्र बहुत अधिक होने पर उपर्युक्त अति संचय की भावना की बहुत वृद्धि हो जाती है।

सफलता की आकांक्षा—अनेक आदमी रुपया इसलिये भी जमा किया करते हैं कि आर्थिक संकट आने पर भी उनके कारोबार में सफलता ही प्रतीत हो। यह सफलता की आकांक्षा, कभी कभी धन बढ़ाने की आकांक्षा से भी अधिक बलवान होती है। कुछ आदमियों को आर्थिक हानि सह कर भी अपनी सफलता बनायी रखने की चिन्ता होती है।

सूद कमाने की इच्छा—आदमी सूद कमाने के लिये भी उपभोग में कमी करते और पूँजी संचित करते हैं। हम देखते हैं कि जिन देशों में सूद की दर ऊँची होती है, वहाँ आदमी में अपेक्षाकृत संचय करने की भावना अधिक होती है। बैंकों की जमा का हिसाब देखने से यह बात प्रत्यक्ष दिखायी दे सकती है; जब जब सूद की दर बढ़ती है, उनमें जमा की रकम बढ़ जाती

है। यह कहा जा सकता है कि आज कल पहले की अपेक्षा सूद की दर कम होने पर, संचय का परिमाण बहुत बढ़ा हुआ है, और बढ़ता जा रहा है। परन्तु इसका विशेष कारण है। अन्य कई बातों का प्रभाव संचय-वृद्धि में सहायक हो रहा है, और उनके सामने सूद की दर का यथेष्ट प्रभाव दिखायी नहीं देती। दो दशाओं में अन्य सब बातें समान होने पर, जब सूद की दर अधिक होती है, तो संचय के लिये प्रेरणा अधिक होती है।

हाँ, इसमें एक अपवाद है, जब कोई आदमी किसी विशेष कार्य के लिये सूद की एक निर्धारित आय सुरक्षित करना चाहता है, तो सूद की दर कम होने की दशा में उसे अधिक संचय करना पड़ता है। उदाहरणवत् एक आदमी अपने लड़कों की शिक्षा के लिये ऐसी व्यवस्था करना चाहता है कि उन्हें सूद की आमदनी में से प्रति मास पचास रुपये मिलते रहें तो सूद की दर कम होने की दशा में उसे अपेक्षाकृत अधिक रुपये बैंक आदि में जमा करने होंगे।

संचय और स्वभाव—कुछ आदमियों का स्वभाव ही ऐसा होता है कि वे कम खर्च करते हैं, उन्हें विलासिता या शौकीनी के सामान में खर्च करना अच्छा नहीं लगता। वे विवाह-शादी, जन्म मरण आदि सामाजिक कार्यों में भी मितव्ययिता-पूर्वक व्यवहार करते हुए अपनी संचय की रुचि का परिचय दिया करते हैं। कुछ आदमियों में संचय की इच्छा ऐसी बढ़ जाती है, कि वे अपने आवश्यक कार्यों में भी समुचित व्यय नहीं करते, आमदनी काफी होने पर भी मैले-कुचैले कपड़े पहनेंगे; साधारण अ-पौष्टिक और घटिया भोजन से जैसे-तैसे उदर-पूर्ति कर लेंगे; तंग, अस्वास्थ्यकर मकान में रहेंगे, और बाल बच्चों की शिक्षा आदि में खर्च करने में बहुत संकोच करेंगे।

यह मितव्ययिता नहीं है, कंजूसी है। और, इस प्रकार संचित की हुई पूँजी बहुत हानिकर भी है, क्योंकि इससे कार्य-कुशलता घटती है, और उसके फल-स्वरूप धनोत्पत्ति में कमी होती है। अतः यह वांछनीय नहीं है।

परोपकार—पहले यह कहा जा चुका है कि आदमी में अपनी या अपने परिवार की रक्षा आदि के लिये संचय की प्रेरणा होती है। उदार दृष्टि वाले व्यक्ति अपने गाँव, अपनी जाति, तथा अपने देश के व्यक्तियों में भी अपनेपन का अनुभव करते हैं, वे 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की नीति का व्यवहार करने वाले होते हैं। इस प्रकार, समय समय पर ऐसे भी उदाहरण सामने आते हैं कि कुछ लोगों की अपनी आवश्यकताएँ नितान्त परिमित होती हैं, उनका अपना परिवार नहीं होता, या होता भी है तो उसके लिये विशेष व्यय नहीं करते। वे अपने तथा अपने परिवार के भविष्य के लिये कुछ चिन्ता नहीं करते, तथापि समाज या देश के लिये संचय करने के वास्ते पूर्णतः कटिबद्ध रहते हैं। भारतवर्ष आदि प्रत्येक देश में समय समय पर ऐसे नेता तथा अन्य कार्य-कर्ता मिलते रहते हैं, जो बहुत सादगी का जीवन बिताते हुए स्कूल, विद्यालय, गुरुकुल, अनाथालय, मातृ-गृह, अस्पताल आदि के लिये सहस्रों रुपये का दान देते हैं, अथवा लाखों की सम्पत्ति इन कार्यों के लिये ही अपने पीछे छोड़ जाते हैं। इस प्रकार संचय में परोपकार का महत्व स्पष्ट है।

पेशे का प्रभाव—कभी कभी पेशे का भी संचय की इच्छा पर कुछ प्रभाव पड़ता है। कुछ पेशे ऐसे हैं, उनमें आदमी को यह शंका रहती है कि न-मालूम कब मृत्यु का ग्रास बन जाना पड़े। ऐसे काम करने वाले में संचय की इच्छा बहुत कम होना

सम्भव है। उदाहरणावत् सैनिक को किसी भी समय रण-क्षेत्र के लिये निमंत्रण आ सकता है, और वहाँ जाने पर मृत्यु से बच कर आने का कुछ निश्चय नहीं रहता। इसी प्रकार नौका तथा जहाज़ चलाने वालों का भी जीवन हर समय संकट में रहता है। अस्तु, सैनिक और नाविक के, स्वयं अपने लिये संचय करने की सम्भावना कम होती है, किन्तु यदि उनमें कुछ दूरदर्शिता हो तो उन्हें अपने बाल बच्चों के लिये धन जमा करने की, बीमा करने आदि की—प्रेरणा खूब हो सकती है।

परलोक-चिन्तन का प्रभाव—कुछ आदमी ऐसे होते हैं कि वे अधिकतर इस लोक की बातों को छोड़ कर पारलौकिक विषयों के चिन्तन में लगे रहते हैं। वे सोचते हैं कि जीवन क्षण-भंगुर है—न मालूम कब मर जायँ, यह संसार माया जाल है, मरने पर सब यहीं पड़ा रह जायगा, कुछ साथ नहीं जायगा। ऐसे लोगों का कथन होता है :—

क्या धन जोड़ता रे, आखिर माटी में मिल जाना।
कण कण जोड़ा, महल बनाया, बन्दा कहे घर मेरा,
ना घर मेरा, ना घर तेरा, चिड़िया रैन बसेरा।
क्या धन जोड़ता रे०।

प्रायः अर्थशास्त्रियों का मत है कि अर्थशास्त्र सामाजिक विद्या होने से उसमें ऐसे आदमियों का विचार न किया जाय, उसमें केवल उन्हीं लोगों का विचार किया जाय जो समाज में मिल कर रहें, और एक दूसरे की आवश्यकता पूर्ति के लिये विविध आर्थिक प्रयत्न करें। हमें यहाँ इस विषय की विशेष चर्चा नहीं करनी है, केवल यही वक्तव्य है, कि जिस देश या समाज में ऐसे आदमी अधिक होते हैं, वहाँ पूँजी का संचय अपेक्षाकृत कम होता है।

संचय की सुविधा; शान्ति और सुव्यवस्था—संचय की शक्ति और इच्छा होने पर भी संचय कार्य उस समय

तक विशेष नहीं होता, जब तक कि उसके लिये आवश्यक सुविधाएँ भी न हों। इन सुविधाओं में देश की आन्तरिक स्थिति की अनुकूलता का महत्व-पूर्ण स्थान है. सभ्य देश में जहाँ सुराज्य, शान्ति तथा सुव्यवस्था है. जहाँ आदमी को यह विश्वास है कि वह अपने प्रयत्न के फल का अच्छी तरह उपभोग कर सकेगा, वहाँ उसकी संचय करने की इच्छा अधिक होगी। इसके विपरीत अशान्ति, विदेशी आक्रमण अथवा अराजकता की दशा में मनुष्य कम संचय करना चाहेगा। जहाँ राज्य सुव्यवस्थित तथा वैध नहीं है, वहाँ प्रजा से नाना प्रकार के अनियमित कर वसूल किये जाते हैं, अथवा राजा, राज परिवार या अन्य उच्च पदाधिकारियों के लिये धनवानों से मनचाहा रुपया वसूल किया जाता है। ऐसी दशा में किसी को संचय करने का उत्साह नहीं होता। सर्वसाधारण 'जो आया, सो खाया' की नीति का व्यवहार करते हैं। अथवा, यदि कुछ संचय भी किया तो उसे किसी उद्योग धन्धे में लगाकर उससे अधिक धनोत्पत्ति नहीं करते, वरन् उसे ज़मीन में गाड़ कर रख देते हैं। इससे वह संचित द्रव्य धन ही रहता है, पूँजी नहीं बनता। जिन देशों में गड़ा हुआ धन अधिक होता है, वे प्रायः वही होते हैं, जिनमें अशान्ति और अव्यवस्था अधिक होती है।

इन देशों में आदमी अपना संचित धन गाड़ कर रखने के अतिरिक्त, आभूषणों में भी विशेष रूप से खर्च करते हैं। यों तो आदमी की, अपने शरीर को विविध प्रकार से सजाने या भूषित करने की इच्छा प्राकृतिक तथा अति प्राचीन है, तथापि आभूषणों में रुपया लगा कर रखने की इच्छा उस दशा में बढ़ जाती है, जब देश में अशान्ति हो, और चोरी या लूट-मार की आशंका अधिक हो। आभूषणों में धन लगाने में विशेष विचार यह रहता है कि वह शरीर के साथ रहेगा, उसे दूसरा व्यक्ति सहज ही अपहरण

न कर सकेगा। गड़ा हुआ धन जितना होता है, उतना बना रहता है, इसके विपरीत आभूषणों में लगाया हुआ धन घड़ाई (सुनार की वेतन), तथा घिसाई के कारण कम हो जाता है। अस्तु, भारतवर्ष आदि देशों में धन गाड़ कर रखने या आभूषणों में लगाने की प्रवृत्ति विशेष रूप से अशान्ति काल में बढ़ी है, हाँ, समाज का एक बार जो स्वभाव बन जाता है, वह सहसा नहीं बदलता, बदलने में समय लगता है, इसलिये इस समय परिस्थिति में पर्याप्त परिवर्तन हो जाने पर भी लोगों की उपर्युक्त आदत में यथेष्ट सुधार नहीं हुआ है।

मुद्रा—मुद्रा के आविष्कार ने पूँजी के संचय की सुविधा बहुत बढ़ा दी है। पहिले कोई आदमी संचय करने का विचार करता तो उसे मानवी आवश्यकताओं को पूरा करने वाले भिन्न भिन्न पदार्थ—अन्न, तेलहन, गुड़ खाँड़, कपड़ा, लकड़ी आदि जमा करके रखना पड़ता था। इन चीज़ों के रखने में बहुत जगह घिरती, और इनको छुपा कर रखना कठिन होता, अतः इनकी चोरी की आशंका अधिक होती, तथा इनके अपेक्षाकृत जल्दी बिगड़ने की भी चिन्ता रहती। सोना चाँदी आदि बहुमूल्य धातुओं को जमा करके रखना सुविधा-जनक हुआ। अब तो मुद्रा या सिक्के के, सब वस्तुओं के विनिमय का माध्यम बन जाने से, आदमी इसी को संचय करना श्रेयष्कर समझते हैं, कारण कि इस के संचय में पूर्वोक्त दोष नहीं है।

व्यापार धन्धे और बैंकों की सुविधा—जब देश में खूब व्यापार होता है, उद्योग धन्धों की वृद्धि होती है तो वहाँ पूँजी की आवश्यकता बहुत होती है, और इसके फल-स्वरूप लोगों को उनमें अपना संचित धन लगाने की सुविधा होती है। इससे ऐसे देश में पूँजी का परिमाण बढ़ता जाता है। इसी प्रकार,

महाजनी या बैंकिंग की व्यवस्था होने से भी लोगों को पूँजी बढ़ाने में सुविधा होती है। हमने पहले कहा है कि कुछ मनुष्यों में सूद की आमदनी पाने के लिये भी संचय करने की इच्छा होती है, परन्तु सूद तभी मिलता है, जब देश में धनोत्पत्ति के कार्य, कृषि, उद्योग धन्धे आदि पर्याप्त मात्रा में हों। यदि अच्छे दृढ़ और विश्वसनीय बैंक न हों तो लोगों की उपर्युक्त इच्छा कार्य में यथेष्ट रूप में परिणत नहीं हो सकती। प्राचीन काल में प्रायः महाजन या साहूकार रुपया जमा करते थे, ये रुपये को सुरक्षित रखने का तो जिम्मा लेते थे, परन्तु उस पर सूद नहीं देते थे। अब स्थान स्थान पर बैंक खुले हुए हैं, जो रुपये को सुरक्षित रखने के साथ उस पर निर्धारित दर से सूद देने का भी जिम्मा लेते हैं। इस से पूँजी की वृद्धि में सहायता मिलती है।

बीमा—बीमे की व्यवस्था होने से भी संचय की सुविधा होती है। हमने पहले कहा है कि मनुष्य में अपनी तथा अपने परिवार की रक्षा के विचार से दूरदर्शिता होती है। और, वह अपनी बीमारी, बेकारी वृद्धावस्था आदि के समय के लिये भी रुपया जमा करके रखने का इच्छुक होता है। बीमे से उसकी यह इच्छा कार्य-रूप में परिणत होने में विशेष प्रोत्साहन मिलता है। वह थोड़ा थोड़ा जमा करके उपर्युक्त समय के लिये बीमा करा सकता है। आदमी, आकस्मिक दुर्घटनाओं—बाढ़, अग्निकांड, भूकम्प आदि से अपनी सम्पत्ति की रक्षा के लिये बीमा करा लेते हैं। मृत्यु पर किसी का वश नहीं, और उसका समय भी निश्चित नहीं, इसका भी बीमा करा लिया जाता है, और, वह इस प्रकार कि किसी आदमी की मृत्यु से उसके परिवार वालों को आर्थिक संकट न हो, बीमा कराने वाले की मृत्यु के बाद बीमे की पूरी रकम उसकी स्त्री या बच्चों को मिल जाय। बालकों की शिक्षा या विवाहादि के लिये भी बीमा कराया जाता है। इस प्रकार

बीमा अनेक तरह का होता है, और उससे संचय करने की बहुत सुविधा मिलती है।

प्राकृतिक स्थिति—संचय की सुविधाओं में देश की प्राकृतिक स्थिति का भी प्रभाव पड़ता है। उदाहरणवत् जहाँ प्राकृतिक उपद्रव बहुत होते हैं, जहाँ आये दिन भूकम्प, बाढ़, तूफान, महामारी आदि दुर्घटनाओं का भयंकर प्रकोप होता है, जहाँ आदमियों को हरदम मृत्यु और विनाश की आशंका लगी रहती है, वहाँ वे धन का संचय अपेक्षाकृत बहुत कम करते हैं।

मशीनों का प्रयोग—पहले कहा जा चुका है कि आज कल धनोत्पादन में पूँजी का बड़ा भाग है, साथ ही पूँजी के अन्तर्गत मशीनों का भाग बहुत बढ़ गया है, तथा बढ़ता जा रहा है। इस युग को मशीनों का युग कहा जाता है। अब तनिक इनके प्रयोग का विचार करें। मनुष्य के विचारों और कार्य पद्धति में क्रमशः प्रगति होती रही है। आरम्भ में वह अपने हाथ पाँवों से, अपनी सामर्थ भर ही काम करता था। पीछे उसने पशुओं को पाल कर उनसे अपने कार्य में सहायता लेनी शुरू की; उदाहरणवत् गधे, घोड़े, भैंसे, ऊँट और हाथी से माल ढोने आदि का काम लिया। पश्चात् उसने जल की शक्ति से आटा पीसने की पनचक्की चलायी, और हवा के सहारे किश्तियों में माल ढोया। उसने और आगे कदम बढ़ाया तो भाफ, तेल और बिजली की शक्ति से चलने वाले अनेक यंत्र बनाये, और बनता जा रहा है।

यंत्र बनाने का क्रम बहुत पुराना है, हाँ, अब उसमें इतनी उन्नति हो रही है, तथा उसकी संचालक शक्ति इतनी बलवती हो गयी है कि प्राचीन यंत्रों की अब कुछ बात सी ही नहीं रही।

कपड़ा बुनने की आधुनिक कलों को देख कर मनुष्य हाथ से चलने वाले चर्खे का उपहास कर सकता है, तथापि जिस व्यक्ति ने पहले-पहल चर्खे का आविष्कार किया, वह अपने समय का महान आविष्कारक रहा होगा, और उसी की प्रतिभा और आविष्कार-बुद्धि ने धीरे धीरे परन्तु दृढ़ता-पूर्वक आधुनिक कपड़े की मिलों के बनने का मार्ग प्रशस्त किया है। इसी प्रकार, अन्य यंत्रों के बारे में कहा जा सकता है। अस्तु, यंत्र-निर्माण के कार्य में चिरकाल से उत्तरोत्तर प्रगति होती रही है। आज कल के उन्नत और औद्योगिक देशों में तो मानवी आवश्यकता के अनेक कार्य—मकान बनाना, कपड़ा बुनना, ऊपर की मंजिल में जाना, नीचे उतरना, दूर की बात सुनना, देखना आदि यंत्रों द्वारा होते हैं, और सवेरे से शाम तक अनेक आदमियों को बहुत तरह के यंत्रों का प्रयोग करना होता है।

मशीनों से लाभ—संक्षेप में मशीनों से होने वाले लाभ निम्न लिखित हैं:—(१) अब अनेक कठिन श्रम के कार्य मशीनों द्वारा हो जाते हैं। पहले अधिक श्रम करने से उसकी शक्ति बहुत क्षीण होती थी, उसका स्वास्थ्य बिगड़ता था, और इससे उसकी आयु कम होती थी। अब मशीनों के प्रयोग से यह बात नहीं रही; मनुष्य को शारीरिक श्रम कम करना पड़ता है।

(२) मशीनों से बहुत से ऐसे काम हो सकते हैं, जो पहले या तो होते ही नहीं थे, या अत्यन्त कठिनाई से हो सकते थे। उदाहरणवत् आज कल के से, बड़ी बड़ी नदियों और नहरों के पुल तथा एक एक नगर के अनेक विशाल गगन-चुम्बी भवन आदि प्राचीन काल में आश्चर्यजनक दृष्टि से देखे जाते। इसी प्रकार जेबी या कलाई की घड़ियों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म पुर्जे इतने बड़े परिमाण में मशीनों के बिना बनने असम्भव ही थे। इन पुर्जों

के हाथ से बनाने में मनुष्यों की आँखों पर कितना जोर पड़ता, बहुतों की तो नजर ही खराब हो जाती।

✓(३) मशीनों द्वारा श्रम-विभाग के लाभ (जो पहले बताये जा चुके हैं) चरम सीमा तक मिलते हैं। उत्पत्ति बढ़ जाती है। माल सस्ता होता है, सर्व साधारण भी उन वस्तुओं को खरीद सकते हैं, जो मशीनों के अभाव में केवल कुछ धनी लोगों के ही काम आतीं। आज कल पोस्टमेन, विद्यार्थियों, और कार्यालयों के कर्मचारियों और चपरासियों आदि के पास घर घर साइकल मौजूद हैं, कुछ अच्छी स्थिति वाले लोग तो मोटर रखने लगे हैं; यह मशीनों का ही प्रताप है।

(४) मशीनों द्वारा ही यह सम्भव है कि एक ही नमूने की और पूर्णतया एक ही आकार की सैकड़ों वस्तुएँ बनायी जायँ। हाथ से बनायी जाने वाली बहुधा दो वस्तुएँ भी पूर्णतया समान नहीं होती। आज कल भिन्न भिन्न मशीनों में जो सूक्ष्म तथा पेचीदा पुर्जे लगते हैं, वे एक ही साँचे के होते हैं, और बने बनाये चाहे जिस नगर में तैयार मिल सकते हैं।

(५) कितने कार्य जो बहुत नीरस हैं, अब मशीनों के द्वारा सुभीते से किये जा सकते हैं। उदाहरणवत् नालियाँ साफ करना, कूड़ा कचरा ढोना, लकड़ी चीरना, रन्दा करना, आदि। ये सब कार्य अब मशीन से होते हैं, मनुष्य को केवल थोड़ी सी देख-भाल आदि का साधारण कार्य करना होता है।

(६) मशीनों की सहायता से अब समय और दूरी की समस्या बहुत-कुछ हल हो गयी है। महीनों का कार्य केवल कुछ दिनों में, और दिनों का काम केवल कुछ घंटों में पूरा हो जाता है। सैंकड़ों हजारों मील दूर रहने वाले व्यक्ति एक दूसरे से आसानी से सलाह-मशवरा कर सकते हैं। अमरीका और

इंगलैंड के वक्ताओं के भाषण भारतवासी उनके ही स्वर में घर-बैठे सुन सकते हैं।

मशीनों से हानियाँ—मशीनों से लाभ के साथ साथ हानियाँ भी हैं, और यद्यपि उन्हें कम करने के लिये निरन्तर प्रयत्न हो रहा है तथा उसमें कुछ सफलता भी मिल रही है, तथापि हानियाँ विचारणीय हैं।

१—मशीनों से दो चार आदमी दर्जनों श्रमियों का काम कर लेते हैं, इस प्रकार बहुत से आदमी बेकार हो जाते हैं; हाँ, जब वस्तु सस्ती बनती है तो उसकी माँग बढ़ने से कुछ और आदमियों को भी काम मिल जाता है, तथापि एक तो इसमें समय लगता है, दूसरे जितने आदमी खाली होते हैं, उन सब को काम नहीं मिलता। पदार्थों के सस्ता होने से आदमियों को नयी आवश्यकताएँ होने लगती हैं, इनकी पूर्ति के प्रयत्न में भी कुछ आदमियों को काम मिलता है। तथापि, बेकारों की संख्या क्रमशः बढ़ती ही जाती है।

२—मशीनों से कारीगरी को बड़ा धक्का पहुँचता है। यद्यपि हाथों द्वारा बनाया हुआ माल कभी कभी अधिक मजबूत तथा बढ़िया होता है, पर वह महँगा पड़ने के कारण सर्व साधारण में उसकी माँग न होकर केवल सम्पन्न या धनी व्यक्ति ही उसे खरीदते हैं। इस प्रकार प्रायः स्वतंत्र कारीगरों का निर्वाह नहीं होता, उन्हें पराधीन श्रमजीवियों का जीवन बिताना पड़ता है।

३—मशीनों से माल जल्दी और अधिक परिमाण में बन जाने से उस सब की उस देश में खपत नहीं हो पाती। माल रुका रहने से उसमें लगे रुपये के सूद की हानि होती है, तथा माल खराब होने की आशंका होती है। अतः उसे अनौद्योगिक देशों के सिर मढ़ने का प्रयत्न किया जाता है। इससे भिन्न भिन्न

औद्योगिक देशों में पारस्परिक संघर्ष, द्वेष और युद्ध की वृद्धि होती है। इस प्रकार आधुनिक अशान्ति और रक्त-पात का मशीनों के प्रयोग से घनिष्ठ सम्बन्ध है। कभी कभी माल न बिकने की दशा में, आगे होने वाली उत्पत्ति में कमी करने का विचार किया जाता है, और इस हेतु श्रमजीवियों की संख्या तथा काम करने के घंटे कम किये जाते हैं। परन्तु इससे भी उक्त समस्या पूर्ण रूप से हल नहीं होती, तथा कुछ अंश में मजदूरों की वेतन में कमी, अथवा उनकी बेकारी की समस्या आ जाती है।

४—मशीनों का अधिक उपयोग करने वाले देशों में प्रायः पूँजी और मजदूरी का झगड़ा, और हड़ताल होती है, घनी बस्तियाँ स्वास्थ्य की दृष्टि से हानिकर होती है, तथा स्त्री पुरुषों का सदाचार ठीक नहीं रहता, परन्तु इन बातों का मशीनों के प्रयोग से प्रत्यक्ष तथा अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है, और इसका क्रमशः सुधार भी हो रहा है।

मशीन और मनुष्य—पहले कहा जा चुका है कि यंत्रों का आविष्कार मनुष्य के लाभ के लिये हुआ। मानव-हित साध्य था, और मशीन उसके लिये एक साधन स्वरूप थी। बहुत समय तक यही बात रही। सिद्धान्त से अब भी यही कहा जाता है। परन्तु अनेक दशाओं में बात उलटी हो रही है। व्यवसाय-पति मशीनों के प्रयोग में श्रमियों के हिताहित का सम्यग् विचार नहीं करते, वे मशीनों की वृद्धि करते हुए और नित्य नयी नयी मशीनों का प्रयोग करते हुए यह सोचते हैं कि वे अधिकाधिक धनवान बन जायँ, उन्हें इस बात की चिन्ता नहीं रहती कि इससे असंख्य मनुष्यों की बेकारी होगी और उनका जीवन संकट-ग्रस्त होगा। वे श्रमियों की शिक्षा, कुशल क्षेम, स्वास्थ्य, निवास-स्थान, मनोरंजन, और विश्राम की यथेष्ट व्यवस्था नहीं करते, वे इन बातों पर प्रायः उसी सीमा तक ध्यान देते हैं, जहाँ तक

उनके लिये अनिवार्य होता है, अर्थात् जहाँ तक के वास्ते, वे क़ानून से बाध्य हैं। कुछ दशाओं में तो उन्हें धनोत्पादन का ऐसा लोभ होता है कि वे क़ानून की अवहेलना करके श्रमजीवियों से नियम-विरुद्ध काम ले लेते है, और जब उनकी वह बात अधिकारियों को मालूम हो जाती है तो कुछ जुर्माना देकर सहज ही अपराध-मुक्त हो जाते हैं। यह जुर्माना उन्हें विशेष अखरता नहीं, कारण कि इसके देने पर भी वे अधिकतर नफ़े में ही रहते हैं।

अस्तु, आधुनिक मशीनरी के युग में सहस्रों लाखों श्रमजीवी, धनोत्पादन के साधन मात्र बने हुए हैं। उनका स्वाभाविक विकास रुक जाता है, उनका जीवन उन्नतिशील नहीं रहने पाता। यही कारण है कि आज कल आधुनिक व्यवस्था की कटु आलोचना हो रही है। लोकमत इस विषय में बढ़ता जा रहा है कि मशीनों के वर्तमान ढंग के प्रयोग से समाज को भयंकर क्षति पहुँच रही है, उन पर व्यक्तियों का स्वामित्व न रह कर, उनसे राज्य द्वारा काम लिया जाना चाहिये। सरकार द्वारा धनोत्पत्ति की जाने के पक्ष तथा विपक्ष में आगे एक स्वतंत्र अध्याय में लिखा जायगा। यहाँ यही वक्तव्य है कि मशीनों से उसी मात्रा में, तथा उसी विधि से काम लिया जाय, जिससे वे मनुष्य के हित-साधन में सहायक हों। मशीन के लिये, मनुष्यों के हितों को बलि न चढ़ायी जाय।

बारहवाँ अध्याय

प्रबन्ध

—:*:—

प्राक्कथन—धनोत्पत्ति के तीन साधनों अर्थात् भूमि, श्रम और पूँजी के सम्बन्ध में लिखा जा चुका है। गत शताब्दी तक उत्पत्ति के ये तीन ही साधन माने जाते थे। परन्तु जैसा कि चौथे अध्याय में बताया जा चुका है, अब इनके अतिरिक्त, उत्पत्ति के दो साधन अर्थात् प्रबन्ध और साहस भी माने जाते हैं। ये दोनों साधन कभी कभी क्या, बहुधा, इकट्ठे मिले हुए होते हैं, तथापि सिद्धान्त की दृष्टि से इनका अलग अलग ही विचार किया जाना चाहिये। इस अध्याय में प्रबन्ध के सम्बन्ध में विचार किया जाता है।

प्रबन्धक आवश्यक भूमि, श्रम और पूँजी का प्रबन्ध करने और माल को कम से कम लागत पर तैयार करने के अतिरिक्त, उत्पन्न माल को, विज्ञापन आदि द्वारा दूर दूर तक के उपभोक्ताओं तक प्रसिद्ध करके, उनमें उसकी माँग पैदा करता अथवा बढ़ाता है, उस माल को विविध स्थानों में रेल, जहाज, मोटर आदि द्वारा विक्री के लिये भिजवाता है।

प्रबन्ध और श्रम में भेद—श्रम की भाँति प्रबन्ध भी उत्पत्ति का एक सक्रिय साधन है। फिर, इन दोनों में अन्तर क्या है? किसी भी प्रकार के श्रमी को कुछ कार्य शारीरिक करना होता और कुछ मानसिक; हाँ, विविध कार्यों के लिये किये जाने वाले शारीरिक और मानसिक श्रम के अनुपात में अंतर

होता है। कोई कार्य अधिकतर शारीरिक होता है, कोई अधिकतर मानसिक। प्रबन्ध कार्य में मानसिक भाग का विशेष रूप से बाहुल्य है; और, शारीरिक का बहुत ही कम। यहाँ तक कि साधारणतया यह मानसिक कार्य ही माना जाता है। प्रबन्ध और श्रम में दूसरा मुख्य भेद यह है कि श्रमी वही कार्य करता है जो उसके सुपुर्द किया जाता है, प्रबन्धक भिन्न भिन्न प्रकार के अनेक श्रमियों से उनकी योग्यतानुसार कार्य लेने वाला व्यक्ति है।

प्रबन्ध कार्य—प्रबन्धक को उत्पत्ति-सम्बन्धी कई कार्य करने होते हैं। उत्पत्ति किस वस्तु की की जाय, इसका निश्चय तो कभी कभी साहसी ही कर देता है, और कभी कभी प्रबन्धक करता है। इसके अतिरिक्त सुयोग्य प्रबन्धक निम्न-लिखित कार्य करता है :—

१—उत्पत्ति के लिये अनुकूल स्थान अर्थात् भूमि छाँटना, जहाँ विविध सुविधाएँ प्राप्त हों।

२—आवश्यक योग्यता वाले श्रमियों को इकट्ठा करके, उनसे श्रम विभाग के विकसित सिद्धान्तों के अनुसार अधिकतम काम लेना।

३—अच्छे बढ़िया, नये ढंग के यंत्रों और औज़ारों का उपयोग कराना।

४—आवश्यक कच्चे पदार्थों को अनुकूल अवसर पर तथा उचित मात्रा में लेना, जिससे वह सस्ते से सस्ते दाम में मिल सकें, उत्पत्ति में यथेष्ट मितव्ययिता हो, किसी प्रकार की फजूल-ख़र्ची न हो।

५—भूमि, श्रम और पूँजी की मात्राओं को इस परिमाण में मिलाना, जिससे कम से कम लागत-खर्च पर अधिक से अधिक परिमाण में वस्तु तैयार हो सके।

६—बाजार-भाव का सम्यग् ज्ञान रखना तथा उत्पन्न माल को भिन्न भिन्न स्थानों में भेज कर उसे अच्छे से अच्छे दामों में बेचने का प्रबन्ध करना।

७—इस बात का अनुमान करना कि जब उसका तैयार किया हुआ माल बाजार में पहुँचेगा, लोगों की रुचि उसकी ओर कैसी होगी, तथा उस माल को देख कर या उसकी सूचना पाकर वे उसको कितने परिमाण में खरीदने वाले होंगे।

प्रबन्धक के गुण—प्रबन्धक अपना कार्य तभी भली भाँति कर सकता है, जब उसमें उसके लिये विशेष गुण हों। किसी व्यवसाय में एक गुण या गुण-समूह की आवश्यकता होती है, किसी में दूसरे की ; तथापि कुछ गुण ऐसे हैं, जो सभी प्रबन्धकों के लिये आवश्यक है। ये निम्नलिखित हैं :—

अपने विस्तृत ज्ञान, अनुभव और अध्ययन से, प्रबन्धक को उत्पत्ति के विविध साधन जुटाने में दक्ष होना चाहिये। पुनः उसे बहुत से आदमियों से काम पड़ता है, उसमें यह सोचने विचारने और निर्णय करने की शक्ति होनी चाहिये कि कौन व्यक्ति कैसा है, कौन कितना योग्य, कार्य-कुशल और विश्वसनीय है। तभी वह अपने सहायकों, कुशल कारीगरों तथा साधारण श्रमियों आदि का चुनाव अच्छा कर सकेगा।

प्रबन्धक को ऐसा व्यवहार-कुशल होना चाहिये, कि सब उससे संतुष्ट रहें, सब उसका विश्वास करें, कोई हड़ताल आदि न होने पावे, सब उसका नेतृत्व मानें, और उसके आदेशानुसार अपने निर्धारित कर्त्तव्य का पालन करते रहें। ऐसा न हो कि प्रबन्धक को एक काम के लिये बारबार कहना पड़े, अथवा कहने के बाद इस बात की बारबार जाँच करनी पड़े कि उसके आदेशानुसार काम हो रहा है या नहीं।

प्रबन्धक बहुधा जो माल तैयार कराता है, उसका बहुत सा हिस्सा भविष्य के लिये तथा दूर दूर के उपभोक्ताओं के लिये होता है। अतः उसे यथेष्ट दूरदर्शी और विचारवान होना चाहिये, और उसमें देश विदेश की आवश्यकताओं का एवं फेशन और रुचि आदि के परिवर्तन का अनुमान करने की क्षमता होनी चाहिये। इस प्रकार वह माँग और पूर्ति का सम्यग् संतुलन करने वाला होना चाहिये। उसे नये से नये यंत्रों तथा वैज्ञानिक आविष्कार का यथेष्ट परिचय होना चाहिये, जिससे वह आवश्यकतानुसार उनका उपयोग कर सके। उसे भिन्न भिन्न देशों की औद्योगिक तथा व्यापारिक स्थिति का भी ज्ञान रखने वाला होना चाहिये, जिससे वह अपने कार्य के लिये आवश्यक वस्तुएँ संग्रह करने के अतिरिक्त, अपने माल को अच्छे से अच्छे भाव पर, यथा-सम्भव शीघ्र बेचने में सफल हो।

ये सब गुण किसी व्यक्ति में पूर्ण रूप से नहीं मिलते, तथापि यह कहा जा सकता है, कि जिसमें ये गुण अधिक परिमाण में होंगे, वह अपेक्षाकृत अच्छा प्रबन्धक प्रमाणित होगा; और दूसरे उत्पादकों तथा प्रबन्धकों के लिये अधिक उत्तम पथ-प्रदर्शक बनेगा।

प्रबन्ध और विज्ञापन—प्रबन्धक जितने अधिक तथा दूर दूर तक के व्यक्तियों को अपने माल की सूचना देगा, उतने ही अधिक ग्राहक मिलने की सम्भावना होती है। अधिक ग्राहकों के मिलने का अर्थ है, माल का अधिक मात्रा में उपभोग, जिसके परिणाम-स्वरूप माल की उत्पत्ति की मात्रा बढ़ती है। माल जितना अधिक उत्पन्न किया जायगा, उतना ही प्रबन्धक को उसमें तरह तरह से मितव्ययिता करने की गुञ्जायश अधिक होती है। इस प्रकार प्रबन्धक को चाहिये कि अपने उत्पन्न माल की सूचना अधिक से अधिक व्यक्तियों को दे। किसी

आदमी के पास कैसी ही उपयोगी वस्तु हो, जब तक कि दूसरों को उसके होने की बात मालूम नहीं होगी, वे उसको खरीदने का विचार कैसे कर सकते हैं। इस प्रकार दूसरों को, उत्पन्न वस्तु के विविध गुणों की, उसके मूल्य तथा प्राप्ति-स्थान सहित, समुचित सूचना दिया जाना आवश्यक है। इसी का नाम विज्ञापन देना है। आजकल उत्पत्ति अधिकतर बड़े पैमाने पर होती है; जो माल तैयार होता है, वह केवल स्थानीय ग्राहकों के लिये ही नहीं होता, वरन् प्रत्येक उत्पादक दुनिया भर में से ग्राहक प्राप्त करने का अभिलाषी होता है, नित्य नये बाज़ारों की खोज में रहता है। ऐसी दशा में विज्ञापन का महत्व बहुत ही बढ़ गया है। विज्ञापन देने के ढंग और साधनों में भी खूब उन्नति हुई है, और हो रही है।

अनेक पत्र पत्रिकाओं के कुल पृष्ठों में से आधे तक केवल विज्ञापन भरे रहते हैं। रेलवे स्टेशनों पर तरह तरह के इश्तहार चिपके रहते हैं। रेलगाड़ियों और ट्रामों में भाँति भाँति के विज्ञापन-युक्त टीन या लकड़ी आदि के सुन्दर रंगीन तख़्ते लगे होते हैं। चौराहों, बाजारों, रास्तों, गली-कूचों के मकानों तथा सड़कों तक पर एवं आस्मान में भी तरह तरह से वस्तुओं के विज्ञापन दिये जाते हैं। औद्योगिक देशों के प्रबन्धकों ने विज्ञापन को एक कला बना दिया है। वे इसका महत्व खूब जानते हैं, और इस मद्द में प्रतिवर्ष लाखों करोड़ों रुपया खर्च करते हैं। वे भाँति भाँति से अपने कारखाने और वस्तु का नाम सर्वसाधारण को कंठ कराने का प्रयत्न करते हैं। भारत-वर्ष में अभी विज्ञापनबाजी अपेक्षाकृत कम है, तथापि यहाँ भी कुछ व्यवसायी इसमें खूब प्रसिद्ध हो गये हैं।

अवश्य ही कुछ व्यक्ति अपनी चीज का विज्ञापन देने में बहुत अधिक अत्युक्ति करते हैं, चीजों का गुण अत्यन्त बढ़ा-

चढ़ा कर बताते हैं, झूठ सच का कुछ विचार नहीं करते, इससे ग्राहकों को बहुधा धोखा होता है। इस अंश में यह समाज के लिये अत्यन्त हानिकर है। अस्तु, हमें यहाँ केवल यही वक्तव्य है कि विज्ञापन वस्तुओं को उपभोक्ताओं तक पहुँचाने में सहायक है, इसलिये यह उत्पत्ति का भाग है; यह कार्य प्रबन्ध के अन्तर्गत है।

प्रबन्ध और यातायात—पहले कहा गया है कि प्रबन्धक तैयार माल को विविध स्थानों में रेल, जहाज़ या मोटर आदि द्वारा बिक्री के लिये भिजवाता है। माल के जाने आने की दर रेल जहाज़ आदि पर स्वामित्व का अधिकार रखने वाली कम्पनियाँ तय करती हैं, और यह विषय विनिमय* के अंतर्गत है। यहाँ यही बताना है कि प्रबन्धक का यातायात से घनिष्ट सम्बंध है, यह उसी का कार्य है कि यातायात के साधनों का सम्यग् एवं मितव्ययिता-पूर्वक उपयोग करे। यातायात का अभिप्राय पदार्थों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना है। भूमि, श्रम और पूँजी की सहायता से जो माल तैयार होता है, यदि वह वहाँ ही रहे और, मंडी में, या उपभोक्ताओं के पास न पहुँचाया जाय तो उस पदार्थ के उत्पादन का वास्तविक उद्देश्य पूरा नहीं होता। प्रत्येक प्रकार का धन इसी लिये उत्पन्न किया जाता है कि उसका उपभोग हो, अतः उत्पादक का कार्य किसी वस्तु की तैयारी सम्बंधी विविध क्रियाएँ करने से ही नहीं है, उसका कार्यक्षेत्र उस वस्तु को उपभोक्ता तक पहुँचाने का है। और, यह पहले समझाया जा चुका है कि स्थान-परिवर्तन से भी भिन्न भिन्न प्रकार की वस्तुओं की उपयोगिता बढ़ती है।

* Exchange.

विशेषतया बड़े पैमाने पर तैयार किये हुए माल के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि दूर दूर तक उसके ग्राहकों की खोज की जाय, और उसे उपभोक्ताओं के पास पहुँचाया जाय। तभी तो उसके यथेष्ट दाम प्राप्त करना सम्भव है, जो कि प्रबन्धक का एक खास लक्ष्य रहता है।

यातायात के साधन—देश के भीतर यातायात के मुख्य साधन पहले सड़कों के अतिरिक्त नहर या नदी आदि जल-मार्ग होते थे। उन्नीसवीं शताब्दी में क्रमशः रेलों का निर्माण तथा प्रचार हुआ। आधुनिक काल में आकाश मार्ग द्वारा, हवाई जहाज़ों से माल भेजने के प्रयत्न आरम्भ हो गये हैं, इनकी अभी शैशव अवस्था कही जा सकती है, परन्तु इनका भविष्य बहुत होनहार मालूम होता है। आशा है कि इनकी उत्तरोत्तर वृद्धि एवं उन्नति होगी, और एक समय ऐसा आ जायगा कि प्रबन्धक को विक्री का माल इनके द्वारा ही भेजने में किफायत रहेगी, अथवा जब इनसे खर्च कुछ अधिक भी होगा, तो जल्दी के विचार से इनका उपयोग करना अपेक्षाकृत अधिक लाभ-जनक होगा।

विदेशों में माल कहीं जल मार्ग से भेजा जाता है, कहीं स्थल मार्ग से। स्थल मार्ग में यातायात रेल-पथ और सड़कों से होती है, और जल मार्ग में भाफ से चलने वाले जहाज़ों का उपयोग होता है। क्रमशः इन सब में ही उन्नति हो रही है। तथापि जैसा कि पहले कहा गया है, हवाई जहाज़ों की आधुनिक उन्नति को देखते हुए ऐसा अनुमान होता है कि भविष्य में उनका स्थान सब से आगे होगा।

माल मँगाने और भेजने में पत्र-व्यवहार तथा सम्वाद भेजने से बड़ी सहायता मिलती है। प्राचीन काल में यह कार्य बहुत मँहगा, तथा समय-साध्य था—अब इसमें बहुत प्रगति हो गई

है, तथा उत्तरोत्तर हो रही है। डाक, तार, टेलीफोन, बेतार का तार आदि साधनों में खूब उन्नति होती जाती है। डाक से तो निर्धारित वजन तक के पार्सल भी आते जाते हैं। तार से माल के आर्डर ही नहीं, उसके मूल्य-स्वरूप रुपया भी आता जाता है। बेतार के तार का उपयोग अभी उपर्युक्त प्रकार से सर्व साधारण के उत्पादन कार्य में सहायक के रूप में नहीं हो रहा है, पर भविष्य में ऐसा होने का अनुमान है।

प्रतिस्थापन्न सिद्धान्त—उत्पत्ति के छोटे पैमाने पर किये जाने वाले कार्यों में भी यह विचार रहता है कि इनमें उत्पत्ति सम्बन्धी खर्च कम से कम लगे, अर्थात् उनमें भूमि श्रम और पूँजी आदि की मात्रा इतनी लगायी जाय कि उनसे लाभ अधिक से अधिक हो। बड़े पैमाने के कार्यों में तो यह बात विशेष रूप से सोचनी होती है। प्रबन्धक यह विचार करता है कि किस साधन की मात्रा को कुछ घटाने और किसकी मात्रा को बढ़ाने से अधिकतम लाभ होगा। दूसरे शब्दों में वह इस बात का प्रयत्न करता है कि सब साधनों की सीमान्त उत्पत्ति लगभग समान रहे, अर्थात् प्रत्येक साधन पर खर्च की जाने वाली अन्तिक एकाई (दस या सौ रुपये) का प्रतिफल बराबर हो। जैसे जैसे लगान, वेतन या सूद की दर बढ़ती है, प्रबन्धक की, भूमि, श्रम या पूँजी की माँग क्रमशः कम हो जाती है, इसी प्रकार जिस साधन का मूल्य कम हो जाता है, अर्थात् जो सस्ता हो जाता है, उसको प्रबन्धक अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में लगाने का विचार करता है। वह प्रत्येक साधन को उतनी मात्रा में लगाना चाहता है, जिससे वह उत्पत्ति में अधिक से अधिक सहायक हो।

प्रबन्धक की दृष्टि व्यावहारिक होती है। उसे किसी साधन विशेष का पक्ष नहीं होता। उदाहरणवत् यदि उसे कुछ मज़दूरों

को हटा कर उनकी जगह मशीन से काम लेने में लाभ प्रतीत हो, तो वह यह नहीं सोचेगा कि ऐसा करने से मज़दूरों को असुविधा होगी; कम से कम, अस्थायी रूप से उनकी बेकारी बढ़ेगी। प्रबन्धक को इस बात से क्या मतलब? वह तो प्रत्येक वस्तु को उसकी अधिक या कम उपयोगिता के अनुसार ग्रहण करता है या उसका परित्याग करता है। जो रीति या साधन कम उत्पादक होगा, उसकी जगह वह अधिक उत्पादक रीति या साधन को काम में लायेगा।

प्रबन्धक उत्पत्ति के विविध साधनों में इस प्रकार व्यय करता है कि प्रत्येक साधन में व्यय होने वाली रक़म की अंतिम एकाई का प्रतिफल दूसरे किसी भी साधन में व्यय होने वाली रक़म की अंतिम एकाई के प्रतिफल के समान हो। जब तक ऐसा न हो, वह अधिक मात्रा वाले साधन की मात्रा को आवश्यकतानुसार घटा कर उसकी जगह दूसरे साधन की मात्रा कुछ बढ़ाता रहता है। इसे 'सम सीमान्त उत्पत्ति नियम'* या 'प्रतिस्थापन्न सिद्धान्त'† कहते हैं।

इस सिद्धान्त का उपयोग—इस सिद्धान्त का उपयोग दो प्रकार से होता है :—(१) उत्पत्ति के एक साधन की जगह दूसरे साधन को काम में लाने से, और (२) किसी साधन के एक भेद की जगह उसी साधन के दूसरे भेद को काम में लाने से। प्रथम प्रकार के उदाहरण के तौर पर कल्पना करो कि प्रबन्धक को यह ज्ञात होता है कि कारखाने के किसी विभाग में, मज़दूरी की मद में दस हज़ार रुपया खर्च करने की अपेक्षा यह अधिक लाभदायक होगा कि उसमें पाँच हज़ार ही रुपया

* Law of equi-marginal Productivity.

† Principle of Substitution.

खर्च किया जाय और पाँच हज़ार से कोई मशीन लेकर लगा दी जाय। इस पर वह मज़दूरों की संख्या कम करके (उनकी मज़दूरी में दी जाने वाली रक़म को घटा कर) एक मशीन बढ़ा लेगा। इसी प्रकार जब वह भूमि की मात्रा कम करके थोड़ी भूमि में ही अधिक पूँजी या अधिक श्रम लगाने में लाभ समझेगा, तो वह ऐसा करने में संकोच न करेगा। स्मरण रहे कि उत्पत्ति के एक साधन को कम करके उसकी जगह दूसरे साधन से काम लेने की क्रिया की एक सीमा है। भूमि, श्रम या पूँजी में से किसी को सर्वथा हटाया नहीं जा सकता, उसकी मात्रा ही कुछ कम ज्यादह की जा सकती है।

अब प्रतिस्थापन सिद्धान्त के दूसरे प्रकार के प्रयोग का उदाहरण लें। प्रबन्धक यह देखता है कि कारखाने में बीस साधारण श्रमी जो काम आठ आने रोज लेकर कर रहे हैं, उस काम को आठ कुशल श्रमी एक रुपया रोज लेकर कर सकते हैं। इसमें १०) का काम ८) में हो जाता है। अब प्रबंधक बीस साधारण श्रमियों को हटा कर उनकी जगह आठ कुशल श्रमियों को नियुक्त करेगा। यह भी सम्भव है कि बीस साधारण श्रमियों का काम दस कुशल श्रमियों से होने पर, अर्थात् प्रत्यक्ष में कुछ भी लाभ न होने पर, प्रबन्धक को यही उचित जचे कि वह साधारण श्रमियों को हटादे, और उनकी जगह कुशल श्रमियों को नियुक्त करे; क्योंकि ऐसा करने से मशीन या औजारों की आवश्यकता कम होगी, और कच्चा माल खराब होने का मौका कम आवेगा; इससे प्रबन्धक को परोक्ष रूप से लाभ होगा। इस उदाहरण में प्रबन्धक साधन को नहीं बदल रहा है, वह श्रम को ही काम में ला रहा है, परन्तु वह उस के भेद को बदल रहा है। इसी प्रकार यातायात, विज्ञापन, भूमि आदि के उदाहरण लिये जा सकते हैं। कल्पना

करो कि कोई माल पाँच सौ मील के फासले पर भेजना है, और वह नाव से, बैलगाड़ी से तथा रेल से भेजा जा सकता है। वह माल जल्दी खराब होने वाला भी नहीं है। इसमें देखना होगा कि किसके द्वारा भेजने से कुल मिला कर होने वाला व्यय, अपेक्षाकृत कम होगा। जिस प्रकार व्यय कम होगा, उसी मार्ग का अवलम्बन किया जायगा।

प्रतिस्थापन सिद्धान्त के सम्यक् उपयोग द्वारा प्रबन्धक इस बात का प्रयत्न करता है कि उत्पादन-व्यय यथा-सम्भव कम हो, और उत्पत्ति अधिक से अधिक हो।

तेरहवाँ अध्याय

साहस

—: * :—

धनोत्पत्ति में साहस का स्थान—भूमि, श्रम, पूंजी और प्रबन्ध का विचार पिछले अध्यायों में हो चुका है। इनके अतिरिक्त धनोत्पत्ति का एक साधन और भी है, यह साधन साहस* कहलाता है। इसकी उपयोगिता समझने के लिये विचार करो कि अन्य सब साधन विद्यमान है। प्रबन्धकर्त्ता ने धनोत्पत्ति के लिये भूमि, श्रम और पूंजी आवश्यक मात्रा में जुटा ली है। परन्तु, उसके मन में संशय बना हुआ है कि ऐसा न हो कि इस कार्य में कुछ लाभ न होकर उलटा हानि ही हो जाय। वह खूब सोच विचार करके तथा मितव्ययिता-पूर्वक कार्य करने को तैयार है, परन्तु वह हानि-लाभ की जोखम उठाना नहीं चाहता।

---

* Enterprise

वह सोचता है कि उसे तो निर्धारित आय प्राप्त हो जाय, या मासिक वेतन मिल जाय, वह इस झगड़े में पड़ना नहीं चाहता कि यदि दैव-योग से कार्य में हानि हो जाय तो वह उसे ही सहनी पड़े। ऐसी दशा में धनोत्पत्ति के लिये अन्य सब साधन विद्यमान होने पर भी उस विषय का विचार कार्य में परिणत नहीं होने पाता।

धनोत्पत्ति का कार्य तभी होगा, जब कोई व्यक्ति (या व्यक्ति-समूह) उसके लिये हानि लाभ की सब जोखम उठाने को तैयार होगा। इस धनोत्पत्ति के साधनों में साहस के स्थान का महत्व स्पष्ट है। हाँ, बहुधा ऐसा हो सकता है कि प्रबन्धक ही कार्य के हानि लाभ की जोखम उठा कर धनोत्पत्ति कर डाले, अथवा एक ही व्यक्ति अपनी भूमि में, अपने श्रम और पूंजी से धनोत्पत्ति सम्बन्धी सब प्रबन्ध करले, और साथ ही उससे होने वाली हानि-लाभ का भार अपने ऊपर ले ले। ऐसी दशा में साहस का महत्व पृथक् रूप से प्रतीत न होगा। तथापि साहस का तत्व उसमें अवश्य ही विद्यमान है। फिर, उपर्युक्त उदाहरण केवल छोटी मात्रा की उत्पत्ति के विषय में ही लागू हो सकता है। आज कल बहुत सा धनोत्पादन कार्य बड़े पैमाने पर होता है। बड़े बड़े कल कारखानों में लाखों करोड़ों रुपया चाहिये। अनेक पूंजीपति अपना रुपया इन कारखानों में लगाने को तैयार हैं, पर वे उसके लिये निर्धारित सूद की आय का आश्वासन चाहते हैं, वह ऐसी जोखम उठाने के लिये कदापि तैयार नहीं कि उनके मूल धन में कुछ कमी हो जाय। वे ऐसे आदमी की खोज में रहते हैं, जिसके पास अपनी पूँजी चाहे कुछ भी न हो, परन्तु जिसमें यह साहस हो कि प्राप्त पूँजी से विविध साधन जुटा कर धनोत्पादन कार्य करे और उससे होने वाले सब हानि लाभ को सहन कर सके। निदान, धनोत्पत्ति में

साहस एक आवश्यक साधन है, और आधुनिक बड़ी मात्रा की उत्पत्ति में, कल कारखानों में, तो इसका महत्व और भी अधिक है।

प्रबन्धक और साहसी—जैसा पहले कहा गया है, कुछ दशाओं में प्रबन्धक और साहसी एक ही व्यक्ति भी होता है, तथापि दोनों का अन्तर स्पष्ट है। प्रबन्धक (जब वह साहसी से पृथक् व्यक्ति होता है, तो) साहसी से अपने विशेष प्रकार के कार्य, अर्थात् प्रबन्ध के लिये प्रतिफल-स्वरूप मासिक वेतन पाता है। यह साहसी की इच्छा पर है कि वह किस प्रबन्धक से काम ले और किससे न ले। इस प्रकार साहसी और प्रबन्धक में एक तरह से मालिक और नौकर का सा सम्बन्ध है।

पूँजीपति और साहसी—कुछ दशाओं में पूँजीवाला भी साहसी का कार्य कर सकता है। वह कल कारखाने से होने वाले हानि लाभ को जोखम उठा सकता है, तथापि दोनों का कार्य भिन्न भिन्न है। पूँजीपति अपना रुपया उधार देता है, तो उस पर निर्धारित दर से सूद आदि के रूप में लाभ का आश्वासन चाहता है, वह उसमें किसी प्रकार की क्षति तो चाहता ही नहीं। उसे इस बात से प्रयोजन नहीं कि उसके मूलधन से जो कारखाना आदि चलाया जाय, वह चले या डूबे; उसे अपना रुपया सूद सहित अवश्य मिलना चाहिये। उसको चुकाने का उत्तरदायित्व साहसी के ऊपर है। इससे पूंजीपति और साहसी का भेद स्पष्ट हो जाता है।

उत्पत्ति के अन्य साधक और साहसी—वास्तव में उत्पत्ति के अन्य सब साधकों और साहसी में एक विशेष अन्तर समान रूप से है। अन्य साधकों में से प्रत्येक को, उत्पत्ति के उपलक्ष्य में, मिलने वाला प्रतिफल निर्धारित है, वे उससे अधिक

नहीं माँग सकते, और उससे कम भी स्वीकार नहीं करते। परन्तु साहस का प्रतिफल निर्धारित नहीं होता, वह सर्वथा अनिश्चित और अस्थायी होता है। वह बहुत अधिक भी हो सकता है, और बहुत कम भी; यहाँ तक कि यह भी सम्भव है, कि किसी उत्पादन कार्य में हानि रहे, और साहसी को अन्य उत्पादक साधकों का कुछ प्रतिफल स्वयं अपने पास से चुकाना पड़े।

अन्य साधनों के स्वामी अपने अपने साधन का प्रतिफल उससे माँगते हैं, भूमि वाला लगान माँगता है, श्रमी वेतन, पूँजी वाला सूद और प्रबन्धक अपना वेतन; परन्तु साहसी अपने साहस का प्रतिफल किसी से न माँग कर, उत्पन्न वस्तु में से, औरों का हिस्सा चुका कर, ले सकता है। इसलिये वह चाहता कि अन्य साधनों के लिये होने वाला खर्च, उत्पत्ति के अनुपात से, यथा-सम्भव कम रहे। वह समय समय पर उनकी मद में खर्च बढ़ाने को भी तत्पर होता है, परन्तु वह उसी दशा में ऐसा करता है, जब कि उसे व्यय के अनुपात से उत्पत्ति अधिक होने की आशा हो। साधारण भाषा में कहा जा सकता है कि वह कम से कम खर्च करके, अधिक से अधिक उत्पत्ति करने का अभिलाषी रहता है।

साहसी के गुण—उपर्युक्त कथन से यह विदित है कि वह ऐसा व्यक्ति होना चाहिये जो गम्भीर हो, और मजबूत दिल का हो, हानि सहनी पड़े तो चिन्ता-निमग्न न हो जाय, कभी हिम्मत न हार बैठे, सदैव उत्साह-युक्त रहे। वह नयी नयी योजनाओं और विचारों का अध्ययन करे, और उन्हें कार्यान्वित करने के लिये कटिबद्ध हो। कल कारखाने के हानि लाभ का उत्तरदायित्व उस पर है, इस लिये पूंजी वाले उसके विचारे हुए कार्य के लिये रुपया उसी दशा में उधार देंगे, जब कि वह विश्वसनीय हो;

लोगों को यह मालूम हो कि वह अपनी बात का धनी है, प्रण का पक्का है, उनका रुपया कहीं मारा नहीं जायगा, वरन् जैसा कि साहसी कहता है वह उत्पादक कार्य में लगेगा, उससे लाभ होगा। जब सर्व साधारण यह जान लेते हैं कि अमुक कार्य में लाभ होगा, तब वे उसके साहसी को आवश्यक मूल-धन देने में संकोच नहीं करते; प्रबन्धक भूमि-पति आदि भी ऐसे व्यक्ति से सम्बन्ध स्थापित करने के इच्छुक रहते हैं।

साहसी के लिये यह आवश्यक है कि वह उपर्युक्त व्यक्तियों को अपनी ओर आकर्षित कर सके, तथा उनके गुण दोषों की अच्छी तरह परख करके, योग्य सहायकों का, विशेषतया दक्ष प्रबन्धक का चुनाव कर सके। अन्य व्यक्तियों को आकर्षित करने के लिये साहसी में यह गुण होना अत्यन्त आवश्यक है कि जब वह किसी कार्य को आरम्भ करे तो दूसरों को उसकी सफलता का विश्वास दिला सके। यह तभी हो सकता है, जब कि वह स्वयं काफी अनुभवी और विचारवान हो। वह बिना सोचे-समझे यों ही किसी बात का बीड़ा न उठा ले; और जब वह किसी कार्य को आरम्भ करे तो उसमें स्वयं उसको किसी प्रकार का संशय न हो, उसे पूर्ण आत्म-विश्वास हो। ऐसे गुणों से युक्त व्यक्ति ही साहसी के उत्तरदायित्व-पूर्ण कार्य का सम्यक् सम्पादन कर सकता है।

व्यवसाय-वृद्धि के लिये साहस की आवश्यकता— बहुधा प्रत्येक देश में थोड़ा-बहुत धन ऐसा रहता है, जिसे उसके स्वामी किसी उत्पादक कार्य में नहीं लगाते। उन्हें डर रहता है कि ऐसा न हो कि वे धन को जिस कार्य में लगाएँ वह अच्छी तरह न चले, उसमें हानि हो जाय। इस विचार से वे अपने धन की उसी मात्रा को बनाये रखने में संतोष मानते हैं। वे रुपये को गाड़ कर रखते हैं। कुछ आदमी तो अपने धन को ज़ेवरों में

लगा देते हैं। यद्यपि वे जानते हैं कि ऐसा करने से जेवरों की घड़ाई आदि के रूप में, उन्हें कुछ हानि होगी, पर वे सोचते हैं कि यह हानि, उस हानि की अपेक्षा कम ही है, जो उस रुपये को किसी ऐसे काम में लगा देने से हो सकती है, जो पीछे बिगड़ जाय। यह सब धन बेकार पड़े रहने का कारण यह होता है कि देश में ऐसे व्यक्ति यथेष्ट संख्या में नहीं होते जो साहसी हों, जो हानि-लाभ की जोखम उठा कर नये नये व्यवसाय खोलने वाले हों। जिन देशों में साहसी आदमी अधिक होते हैं, वहाँ धन बेकार नहीं पड़ा रहता, वह और अधिक धनोत्पादन में लगता है, पूँजी की वृद्धि करता है, और व्यवसायों को बढ़ाता है। व्यवसायों की वृद्धि से जनता को शिक्षा, सभ्यता, संस्कृति, स्वास्थ्य आदि सम्बन्धी नाना प्रकार के लाभ होते हैं। इन लाभों की प्राप्ति के लिये, जनता की इस दृष्टि से उन्नति होने के लिये, साहस की आवश्यकता स्पष्ट है।

भारतवर्ष, चीन, आदि देश आधुनिक औद्योगिक देशों से कई बातों में बहुत पीछे हैं, इसका एक कारण यह है कि यहाँ ऐसे व्यक्तियों की बहुत कमी है, जिनमें साहस की यथेष्ट मात्रा हो, जो हानि-लाभ की जोखम उठा कर विविध व्यवसायों का सुयोग्यता-पूर्वक संचालन करें। देश-हितैषियों को चाहिये कि धनोत्पत्ति के इस साधन की कमी को क्रमशः दूर करने का प्रयत्न करें।

साहस तथा शिक्षा—साहस का और कुछ अंश में प्रबन्ध का भी काम ऐसा है, जो बहुत-कुछ आदमी के व्यक्तित्व पर निर्भर है। शिक्षा द्वारा उसके करने की यथेष्ट योग्यता प्राप्त नहीं की जा सकती। उदाहरणवत् इन कामों के लिये दूरदर्शिता, विश्वसनीयता या नेतृत्व, और मनुष्यों की परख करने तथा हानि-लाभ की जोखम उठाने आदि के विविध गुणों की आवश्यकता होती है। यह गुण किसी स्कूल या कालिज की

शिक्षा से नहीं आते। हाँ, शिक्षा से तथा उद्योग और व्यवसाय सम्बन्धी साहित्य के अवलोकन से कुछ साधारण ज्ञान प्राप्त हो सकता है, जैसे कौन सी वस्तु संसार के किस भाग में पैदा होती है तथा कहाँ वह अच्छी तथा किफायत से मिल सकती है, इत्यादि। प्रबन्धक को व्यावहारिक अनुभव की बहुत आवश्यकता होती है। यह अनुभव तो शिल्प कार्यालयों तथा कारखानों में रह कर ही प्राप्त किया जा सकता है। उदाहरणवत् कपड़ा बुनने की मिलों में कुछ दिन काम सीख चुकने वाला जानता है कि किस विभाग में कौन से यंत्र से कार्य कितना सरल तथा मितव्ययिता-पूर्वक होता है, यदि उस यंत्र की जगह दूसरे यंत्र से कार्य लिया जाय तो उसमें क्या व्यावहारिक सुविधाएँ या असुविधाएँ होंगी, श्रमियों से काम किस तरह लिया जाना चाहिये ; इत्यादि। अस्तु, जिन व्यक्तियों में प्रबन्धक और साहसी के स्वाभाविक गुण हों, यदि वे उपर्युक्त साधारण एवं व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त कर लें तो वे और अधिक उत्तमता से अपना कार्य सम्पादन कर सकते हैं।

चौदहवाँ अध्याय

उत्पत्ति के नियम

—: * :—

उत्पत्ति के पाँचों साधनों—भूमि, श्रम, पूँजी, प्रबन्ध और साहस के सम्बन्ध में, इस पुस्तक के पिछले अध्यायों में विचार किया जा चुका है। इस अध्याय में यह विचार करना है कि इन साधनों के सहयोग से होने वाली उत्पत्ति के क्या नियम हैं, और वे किस प्रकार तथा कहाँ तक लागू होते हैं।

उत्पत्ति-वृद्धि नियम—किसी खेत पर या किसी कारखाने में जैसे जैसे लागत-खर्च बढ़ाया जाता है वैसे वैसे उत्पत्ति में भी वृद्धि होती जाती है। परन्तु एक सीमा के बाद जिस अनुपात के लागत-खर्च में वृद्धि होती है उस अनुपात में उत्पत्ति में वृद्धि नहीं होती। जैसे जैसे लागत-खर्च बढ़ता जाता है वैसे वैसे एक सीमा तक सीमान्त उत्पत्ति बराबर बढ़ती जाती है। उस सीमा के बाद अधिक लागत-खर्च लगाने पर फिर एक दूसरी सीमा तक सीमान्त उत्पत्ति पहले के बराबर ही रहती है, और फिर और भी अधिक लागत-खर्च बढ़ाने पर सीमान्त उत्पत्ति घटने लगती है। जिस सीमा तक लागत खर्च बढ़ाने पर सीमान्त उत्पत्ति बढ़ती जाती है। उस सीमा तक क्रमागत उत्पत्ति-वृद्धि नियम लागू होता है। फिर उस सीमा से जिस सीमा तक सीमान्त उत्पत्ति एकसी रहती है, क्रमागत उत्पत्ति-समता नियम लागू होता है। और, उस सीमा से जिससे सीमान्त उत्पत्ति कम होने लगती है, क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास नियम लागू होता है। प्रत्येक वस्तु के उत्पन्न करने में चाहे वे खेती द्वारा पैदा की जायँ या किसी कारखाने में तैयार की जायँ, लागत-खर्च क्रमशः बढ़ाने से उपर्युक्त तीनों नियम क्रमशः लागू होते हैं। खेती में क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास नियम शीघ्र लागू होने लगता है, और कारखानों में लागत-खर्च बढ़ाने में बड़ी देर तक क्रमागत उत्पत्ति-वृद्धि नियम लागू होता है। परन्तु कारखाने में भी एक सीमा के बाद क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास नियम अवश्य लागू होने लगता है। उदाहरणों द्वारा हम इन नियमों को समझाने का प्रयत्न करते हैं।

खेती का उदाहरण—अगले पृष्ठ के कोष्ठक में किसी एक खेत पर किये हुए लागत-खर्च और उत्पत्ति का परिमाण दिया जाता है।

लागत ख़र्च रुपयों में	उत्पत्ति का परिमाण (मन में)	सीमान्त उत्पत्ति (मन में)
२५	१०	१०
५०	२२	१२
७५	३६	१४
१००	५१	१५
१२५	६६	१५
१५०	८०	१४
१७५	९३	१३
२००	१०५	१२
२२५	११५	१०
२५०	१२३	८

इस कोष्ठक में सीमान्त उत्पत्ति के अंक, उत्पत्ति के परिमाण (दूसरा कालम) के अंकों से निकाले गये हैं। ५० रुपये लागत-ख़र्च लगाने पर सम्पूर्ण उत्पत्ति २२ मन होती है, और २५ रुपये लगाने पर केवल दस मन। इस प्रकार दूसरे २५ रुपये लगाने पर उत्पत्ति में १२ मन की वृद्धि हुई। यह बारह मन ५० रुपया लागत-ख़र्च का सीमान्त उत्पत्ति समझी जाती है। इसी प्रकार अन्य लागत-ख़र्च की सीमान्त उत्पत्ति का हिसाब लगाया जा सकता है।

इस कोष्ठक के देखने से मालूम होता है कि इस खेत पर १०० रुपयों तक लागत-ख़र्च बढ़ाते जाने पर सीमान्त उत्पत्ति बढ़ती जाती है। १०० रुपया लागत ख़र्च लगाने पर सीमान्त उत्पत्ति १५ मन है। २५ रुपया और लागत-ख़र्च बढ़ाने पर

सीमान्त उत्पत्ति १५ मन ही रह जाती है। सीमान्त उत्पत्ति में वृद्धि यहाँ रुक जाती है। इसलिये हम यह कह सकते हैं कि इस खेत में १०० रुपया लागत-खर्च लगाने तक क्रमागत उत्पत्ति-वृद्धि नियम लागू होता है। इसके बाद १२५ रुपये की लागत-खर्च तक क्रमागत उत्पत्ति-समता नियम लागू होता है। इसके बाद लागत-खर्च बढ़ाने पर सीमान्त उत्पत्ति कम होने लगती है। १५० रुपया लागत-खर्च लगाने पर सीमान्त उत्पत्ति १५ मन से घट कर १४ मन ही रह जाती है। इसलिये इस खेत पर १२५ रुपया लागत-खर्च लगाने के बाद क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास नियम लागू होने लगा है।

इन नियमों के सम्बन्ध में एक ध्यान देने योग्य बात यह है कि इनका सम्बन्ध उत्पत्ति के परिमाण से है, वस्तु के मूल्य से नहीं। जब तक निर्दिष्ट लागत-खर्च लगाने से उत्पत्ति के परिमाण में कोई अन्तर नहीं पड़ता, जो नियम जिस सीमा से लागू हो रहा है उसी सीमा से लागू होता रहेगा चाहे फिर वस्तु के मूल्य में कितना ही घट बढ़ होता जाय। दूसरी बात ध्यान देने योग्य यह है कि जिस सीमा से क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास नियम आरम्भ होता है, उसी सीमा पर उत्पादक को हानि होना आरम्भ नहीं हो जाता और, न वह उसी सीमा पर अधिक लागत-खर्च लगाना बन्द ही कर देता है। लागत-खर्च किसी खेत में किस सीमा तक लगाया जाता है, यह वस्तु के मूल्य पर निर्भर है। इसका विवेचन आगे किया जायगा।

कारख़ाने का उदाहरण—अब हम इन नियमों के समझाने के लिये किसी कारख़ाने का उदाहरण लेते हैं। अगले पृष्ठ के कोष्ठक में किसी सूती कपड़े के कारख़ाने के लागत-खर्च और उत्पत्ति का परिमाण दिया जाता है :—

लागत खर्च	सम्पूर्ण उत्पत्ति	सीमान्त उत्पत्ति
१ हज़ार रुपये	२ हज़ार गज	२ हज़ार गज
२ ,, ,,	४½ ,, ,,	२½ ,, ,,
३ ,, ,,	७½ ,, ,,	३ ,, ,,
४ ,, ,,	११ ,, ,,	३½ ,, ,,
५ ,, ,,	१५ ,, ,,	४ ,, ,,
६ ,, ,,	१९½ ,, ,,	४½ ,, ,,
७ ,, ,,	२४½ ,, ,,	५ ,, ,,
८ ,, ,,	३० ,, ,,	५½ ,, ,,
९ ,, ,,	३६ ,, ,,	६ ,, ,,
१० ,, ,,	४२½ ,, ,,	६½ ,, ,,
११ ,, ,,	४९½ ,, ,,	७ ,, ,,
१२ ,, ,,	५७ ,, ,,	७½ ,, ,,
१३ ,, ,,	६५ ,, ,,	८ ,, ,,
१४ ,, ,,	७३ ,, ,,	८ ,, ,,
१५ ,, ,,	८०½ ,, ,,	७½ ,, ,,
१६ ,, ,,	८७½ ,, ,,	७ ,, ,,
१७ ,, ,,	९४ ,, ,,	६½ ,, ,,
१८ ,, ,,	१०० ,, ,,	६ ,, ,,
१९ ,, ,,	१०५½ ,, ,,	५½ ,, ,,
२० ,, ,,	११० ,, ,,	४½ ,, ,,
२१ ,, ,,	११४ ,, ,,	४ ,, ,,
२२ ,, ,,	११७ ,, ,,	३ ,, ,,

उपर्युक्त उदाहरणों में, लागत-खर्च में ज़मीन का लगान, मज़दूरी, पूँजी का सूद, मशीनों की घिसाई, मुनाफा, कमीशन, विज्ञापन, कच्चे माल तथा भाफ बिजली इत्यादि का खर्च सम्मिलित है। इस कोष्ठक में भी सीमान्त उत्पत्ति के अंक, सम्पूर्ण

उत्पत्ति के अंकों से निकाले गये हैं। इसका तरीका पिछले उदाहरण में समझाया जा चुका है।

इस कोष्ठक को देखने से मालूम होता है कि जैसे जैसे इस कारखाने पर लागत-खर्च बढ़ता जाता है, सीमान्त उत्पत्ति १३ हज़ार रुपये के लागत-खर्च तक बढ़ती जाती है। इसलिये इस कारखाने में १३ हजार रुपये के लागत-खर्च तक क्रमागत उत्पत्ति-वृद्धि नियम लागू होता है। १४ हज़ार रुपये लागत-खर्च लगाने पर सीमान्त उत्पत्ति पहले के बराबर (आठ हज़ार गज़) ही रहती है। इसीलिये १३ हज़ार रु० लागत-खर्च से १४ हज़ार रुपये लागत-खर्च तक क्रमागत उत्पत्ति-समता नियम लागू होता है और १४ हज़ार रुपये की लागत के बाद क्रमागत ह्रास नियम लागू होता है। परन्तु ध्यान देने योग्य बात यह है कि कारखाने का मालिक इसी सीमा के बाद लागत-खर्च लगाना बन्द नहीं कर देता है। जैसा कि हम पिछले उदाहरण में कह चुके हैं, यह सीमा वस्तु के मूल्य पर निर्भर रहती है।

किस सीमा पर अधिक लागत-खर्च बन्द हो जाता है?—कल्पना करो कि वस्तु का मूल्य, अर्थात् कपड़े की कीमत चार आने प्रति गज है। उपर्युक्त उदाहरण में सीमान्त लागत-खर्च एक हजार रुपया है। वह अपना लागत-खर्च उस सीमा तक बढ़ाता जायगा जिस पर उसे सब से अधिक विशेष मुनाफा होगा। १९ हजार रुपये लागत-खर्च लगाने पर वह १०५½ हज़ार गज कपड़ा पैदा करता है जिसका मूल्य चार आने प्रति गज के हिसाब से २६ हजार ३७५ रुपया होता है। इस सीमा तक उत्पत्ति करने से उसे ७३७५) का विशेष मुनाफा होता है। यदि वह २० हजार रुपये लागत-खर्च लगाता है तो उसे ११० हज़ार गज कपड़े पर २७,५०० रुपये प्राप्त होते हैं। इस प्रकार उसका

विशेष मुनाफा ७५०० रुपया होता है। यदि वह २१ हजार रुपये लागत-खर्च लगाता है तो उसे ११४ हजार गज कपड़े पर २८,५०० रुपये प्राप्त होते हैं। इस प्रकार उसका विशेष मुनाफा ७,५०० रुपया होता है। बीस हजार से इक्कीस हजार तक लागत-खर्च बढ़ाने में उसके विशेष मुनाफे में अन्तर नहीं पड़ता परन्तु लागत-खर्च में मुनाफा सम्मिलित होने के कारण उसे अपने इक्कीसवें हज़ार रुपये पर साधारण मुनाफा मिल जाता है। यदि वह २२ हज़ार रुपये लागत-खर्च लगाता है तो उसे ११७ हज़ार गज कपड़े पर २९,२५० रुपये प्राप्त होते हैं। इस प्रकार उसका विशेष मुनाफा ७,२५० रुपया होता है। यह रकम उस विशेष मुनाफे की रकम से कम है जो उसे २१ हज़ार रुपया लागत-खर्च लगाने पर प्राप्त होता है। इस लिये वह २१ हज़ार रुपया से अधिक लागत-खर्च नहीं लगाता। इस सीमा पर उसकी सीमांत उत्पत्ति का मूल्य चार आने गज के हिसाब से एक हज़ार रुपया है, और यही उसकी सीमांत लागत भी है। इसलिये जिस सीमा पर सीमांत लागत-खर्च और सीमांत उत्पत्ति का मूल्य बराबर हो जाता है, उसी सीमा पर उत्पादक को विशेष मुनाफा सब से अधिक होता है और उसी सीमा के बाद वह अधिक लागत-खर्च लगाना बंद कर देता है।

अब मान लीजिये कि कपड़े की कीमत तीन आने प्रति गज हो गई, और उस कारखाने में कपड़े के तैयार करने के खर्च के संबंध में कोई परिवर्तन नहीं हुआ; जितने लागत-खर्च पर पहले जितना कपड़ा तैयार होता था, उतना अब भी तैयार होता है। ऐसी दशा में व्यवस्थापक उतना लागत-खर्च लगावेगा जितने से सीमांत उत्पत्ति का मूल्य कम से कम एक हज़ार रुपये होगा; अर्थात् ३ आना प्रतिगज के हिसाब से दाम ५$\frac{1}{3}$ हज़ार गज सीमांत उत्पत्ति होगी। उपर्युक्त कोष्ठक से मालूम होता है

कि १९ हज़ार रुपये लगाने से सीमांत उत्पत्ति ५½ हज़ार गज होती है और यदि २० हज़ार रुपये लगाए जायँ तो सीमांत उत्पत्ति केवल ४½ हज़ार गज ही रह जाती है। इस लिये वह बीसवाँ हज़ार रुपये लगाने का साहस न करेगा और अपना लागत खर्च १९ हज़ार रुपये ही रखेगा। इस प्रकार कपड़े की कीमत घटने का प्रभाव यह होता है कि लागत-खर्च कम लगाया जाता है। परन्तु कपड़े की कीमत के बदलने से क्रमागत उत्पत्ति-वृद्धि, समता या ह्रास नियमों के लागू होने में कोई अन्तर नहीं पड़ा। वे जिस सीमा पर पहिले लागू होते थे उसी सीमा पर अब भी लागू होते हैं, और तब तक लागू होते रहेंगे जब तक कि कारखाने में उत्पत्ति के तरीकों में कोई परिवर्तन न हो जाय।

अनाज की कीमत घटने-बढ़ने का उत्पत्ति पर प्रभाव—अब हम यह बतलाते हैं कि अनाज की कीमत घटने बढ़ने का क्या प्रभाव पड़ता है। अनाज की उत्पत्ति सम्बन्धी जो पहला उदाहरण पृष्ठ १७५ पर लिखा गया है उसमें मान लीजिये कि अनाज की कीमत २½ रुपया प्रति मन है। इस उदाहरण में सीमांत लागत-खर्च २५ रुपया है। जब तक सीमांत उत्पत्ति का मूल्य कम से कम २५ रुपया रहेगा, उत्पादक लागत लगाने को तैयार रहेगा। कोष्ठक से मालूम होता है कि २२५ रु० लागत-खर्च लगाने में सीमांत उत्पत्ति १० मन होती है, और २½ रुपया प्रति मन के हिसाब से इसका मूल्य २५ रुपया होता है। इसके बाद यदि उत्पादक २५ रुपया और लगाने का प्रयत्न करता है तो सीमांत उत्पत्ति केवल ८ मन रह जाती है, जिसका मूल्य केवल २० रुपया ही होता है। इस लिये वह अंतिम २५ रुपयों को नहीं लगावेगा, और जब तक कीमत २½ रुपया मन रहेगी वह केवल २२५ रुपया उस खेत में लगावेगा। स्मरण रहे कि

इस उदाहरण में क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास नियम १२५ रुपया लागत खर्च लगाने के बाद ही आरम्भ हो जाता है परन्तु उत्पादक तो २½ रुपया मन कीमत प्राप्त होने पर २२५ रुपया तक लागत उस खेत में लगा देता है। इससे यह स्पष्ट रूप से विदित होता है कि वह सीमा जहाँ पर क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास नियम लागू होता है, उस सीमा से भिन्न है जिस पर कि उत्पादक अधिक रुपया लगाना बंद कर देता है। अब मान लीजिये कि अनाज की कीमत घट कर दो रुपया प्रति मन हो गई और खेती के तरीकों में किसी भी प्रकार का कुछ परिवर्तन नहीं हुआ। अब इस नयी कीमत के हिसाब से जब सीमांत उत्पत्ति कम से कम १२½ मन होगी तब ही उसे २५ रुपया प्राप्त हो सकेंगे। पृष्ठ १७५ पर दिये हुए कोष्ठक देखने से मालूम होता है कि १७५) लागत-खर्च लगाने से सीमांत उत्पत्ति १३ मन होती है। जब अनाज की कीमत २ रुपया मन रहती है, लागत-खर्च लगाने की सीमा २२५ रुपयों से घटकर १७५ रुपया तक घट जाती है। इससे स्पष्ट है कि अनाज के मूल्य के घटने से खेत पर लागत-खर्च में भी कमी हो जाती है, परन्तु उस सीमा में कोई अन्तर नहीं पड़ता जिस सीमा पर क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास नियम आरम्भ होता है।

उत्पत्ति के तरीकों के सुधार का उत्पत्ति पर प्रभाव—अब हम यह मान लेते हैं कि खेती के तरीकों में सुधार हो जाने के कारण लागत-खर्च की सीमांत उत्पत्ति में वृद्धि हो गई है। अगले पृष्ठ के कोष्ठक में उसी खेत की भिन्न-भिन्न लागत खर्च की खेती के तरीकों के सुधार के पहले और पीछे की सीमांत उत्पत्ति दी जाती है:—

लागत-खर्च (रुपयो में)	सुधार के पहले सीमांत उत्पत्ति (मन में)	सुधार के बाद सीमांत उत्पत्ति (मन में)
२५	१०	११
५०	१२	१३
७५	१४	१५
१००	१५	१७
१२५	१५	१८
१५०	१५	१९
१७५	१३	२०
२००	१२	२०
२२५	१०	१८
२२०	८	१६

इस कोष्ठक को देखने से मालूम होता है कि नये तरीकों के उपयोग के बाद, क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम के लागू होने की सीमा १७५ रुपया है। नये तरीकों के उपयोग करने के पहले यह सीमा १०० रुपया थी। अर्थात् कृषि-सुधार का यह परिणाम होता है कि जिस सीमा पर क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास नियम लागू होता है उसमें वृद्धि हो जाती है। उत्पत्ति के तरीकों में सुधार होने पर क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास नियम के लागू होने की सीमा पर कारखानों में इसी प्रकार का प्रभाव पड़ता है, अर्थात् वह सीमा बढ़ जाती है।

नियम सम्बन्धी विशेष बातें उपर्युक्त विवेचन से नीचे लिखे अनुसार निष्कर्ष निकाले जाते हैं :—

(१) किसी भी खेत या कारखाने में जैसे जैसे लागत-खर्च बढ़ता जाता है, सीमांत उत्पत्ति पहले बढ़ती जाती है, फिर कुछ

सीमा तक बराबर रहती है, और अंत में एक सीमा के बाद कम होने लगती है।

(२) खेतो में क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास नियम जल्दी लागू होने लगता है और, कारखानों में यह नियम देर से लागू होता है।

(३) जिस सीमा पर क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास नियम का लागू होना आरम्भ होता है, वस्तुओं की कीमत के घट-बढ़ का उस पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ता।

(४) वस्तु की कीमत घटने से वह सीमा जिस पर लागत-खर्च बन्द कर दिया जाता है, घट जाती है और वस्तु की कीमत बढ़ने से वह सीमा बढ़ जाती है।

(५) उत्पत्ति के तरीकों में सुधार होने से वह सीमा जिस पर क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास नियम लागू होना आरम्भ होता है बढ़ जाती है।

लागत-खर्च की दृष्टि से उत्पत्ति के नियम—अभी तक उत्पत्ति के नियमों का सीमांत उत्पत्ति को दृष्टि से विचार किया गया है। अब उन्हीं नियमों का लागत-खर्च की दृष्टि से विचार किया जाता है। जैसे जैसे किसी खेत या कारखाने में लागत खर्च बढ़ाया जाता है अर्थात् किसी वस्तु की उत्पत्ति का परिमाण बढ़ाया जाता है, वैसे वैसे एक सीमा तक वस्तु का औसत लागत-खर्च घटता जाता है। उस सीमा से एक दूसरी सीमा तक औसत लागत-खर्च बराबर रहता है, और फिर एक सीमा के बाद उस वस्तु की उत्पत्ति का परिमाण बढ़ाने से औसत लागत-खर्च भी बढ़ने लगता है। यह बात एक उदाहरण द्वारा आगे स्पष्ट की जाती है।

चीनी के कारखाने की उत्पत्ति	सीमांत लागत-खर्च (प्रति मन)	औसत लागत-खर्च (प्रति मन)
१० हज़ार मन	१५ रुपया	१५) रुपया
२० ” ”	१२ ”	१३॥)
३० ” ”	१० ”	१२॥)
४० ” ”	८ ”	११।)
५० ” ”	६ ”	१०≡)
६० ” ”	५ ”	९।–)
७० ” ”	५ ”	८॥≡)
८० ” ”	६ ”	८।=)
९० ” ”	७ ”	८।)
१०० ” ”	९ ”	८।)
११० ” ”	१० ”	८।=)
१२० ” ”	१२ ”	८।॥)
१३० ” ”	१५ ”	९≡)
१४० ” ”	१९ ”	१०)

इस कोष्ठक के औसत लागत-खर्च के अंक सीमांत लागत खर्च के अंकों से प्राप्त किये गए हैं। जब कारखाने में २० हज़ार मन चीनी पैदा होती है तो सीमांत लागत खर्च १२ रुपया मन है। उसमें प्रथम दस हज़ार मन का लागत-खर्च १५ रुपया प्रति मन के हिसाब से १५० हज़ार रुपया, और दूसरे दस हज़ार मन का लागत खर्च १२ रुपया प्रति मन के हिसाब से १२० हज़ार रुपया, अर्थात् बीस हज़ार मन चीनी का संपूर्ण लागत खर्च (१५० हज़ार रु० + १२० हज़ार रु०) २७० हज़ार रुपया होता है। जब २७० हज़ार रुपयों से २० हज़ार मन चीनी तैयार की जाती है तो प्रति मन औसत-खर्च १३॥) होता है। यही

औसत लागत-खर्च उपर्युक्त कोष्ठक के तीसरे कालम में बतलाया गया है। इसी प्रकार अन्य परिमाणों के औसत लागत-खर्च का हिसाब लगाया गया है।

इस कोष्ठक से मालूम होता है कि चीनी के कारखाने की उत्पत्ति जैसे जैसे बढ़ती जाती है औसत लागत-खर्च १५) रुपया प्रति मन से कम होते होते ८।) प्रति मन तक कम होता है, जब ६० हज़ार मन चीनी की उत्पत्ति होती है। इस सीमा के बाद १ लाख मन चीनी की उत्पत्ति तक औसत लागत-खर्च ८।) प्रति मन रहता है। इसके बाद औसत लागत-खर्च फिर बढ़ने लगता है। जब तक इस कारखाने में उत्पत्ति के तरीकों में सुधार न होगा, जिस सीमा से औसत लागत-खर्च बढ़ने लगता है उस सीमा में कोई परिवर्तन न होगा; चीनी की कीमत घटने बढ़ने का इस सीमा पर कुछ प्रभाव न पड़ेगा।

कीमत के घट-बढ़ का प्रभाव—अब मान लीजिये कि चीनी की कीमत १० रुपया प्रति मन है, तो इस कारखाने का उत्पादक कितनी चीनी उत्पन्न करेगा? उपर्युक्त कोष्ठक से मालूम होता है कि यदि वह १४० हज़ार मन चीनी उत्पन्न करे तो उसका औसत लागत खर्च १० रुपया प्रति मन होगा। यदि वह इस सीमा तक चीनी उत्पन्न करेगा तो फिर उसे विशेष मुनाफा कुछ नहीं बचेगा। इस कीमत पर लागत खर्च १४०० हज़ार रुपये होगा और १४० हज़ार मन पर १० रुपया प्रति मन के हिसाब से उसे १४०० हजार रुपये मिल जावेंगे। ८० हज़ार मन चीनी की उत्पत्ति से १२० हज़ार मन तक चीनी की उत्पत्ति करने में १० रुपया प्रति मन चीनी की कीमत के हिसाब से उसे अगले पृष्ठ में लिखे अनुसार मुनाफा होगा:—

चीनी का परिमाण	संपूर्ण लागत* हज़ार रु०	चीनी का मूल्य हज़ार रु	विशेष मुनाफा हज़ार रु०
८० हज़ार मन	६७०	८००	१३०
९० " "	७४२½	९००	१५७½
१०० " "	८२५	१०००	१७५
११० " "	९२१½	११००	१७९
१२० " "	१०५०	१२००	१५०

इस कोष्ठक को देखने से मालूम होता है कि उत्पादक को सब से अधिक विशेष मुनाफा ११० हज़ार मन चीनी उत्पन्न करने से होता है। उसका उद्देश भी सब से अधिक चीनी उत्पन्न करने का नहीं, बल्कि सब से अधिक विशेष मुनाफा प्राप्त करने का होता है। इसलिये जब तक चीनी की कीमत १० रुपया प्रति मन रहती है, वह ११० हज़ार मन से अधिक चीनी अपने कारखाने में नहीं उत्पन्न करता। इतनी चीनी उत्पन्न करने का सीमांत लागत-खर्च १० रुपया प्रति मन है। इसलिये हम यह कह सकते हैं कि जिस परिमाण के उत्पन्न करने में सीमांत लागत-खर्च और कीमत बराबर होती है, उसी सीमा तक उत्पादक वस्तु उत्पन्न करता है, और उसी परिमाण में यदि वस्तु उत्पन्न करने पर उसे सब से अधिक विशेष मुनाफा मिलता है। चीनी की कीमत ९ रुपया प्रति मन हो जायगी तो उत्पादक १०० हज़ार मन ही चीनी तैयार करेगा, क्योंकि इसी सीमा पर उसका सीमांत लागत खर्च ९ रुपया प्रति मन होगा। उसे

* चीनी के परिमाण को पृष्ठ १८२ के कोष्ठक में दिये हुए औसत लागत-खर्च से गुणा करके, इस कालम के अंक निकाले गये हैं।

इस कीमत पर ।॥) प्रति मन विशेष मुनाफा होगा । इससे यह स्पष्ट है कि कीमत के गिरने से वस्तु की उत्पत्ति का परिमाण कम हो जाता है, परन्तु जैसा कि पहले बता चुके हैं उस सीमा में कुछ अंतर नहीं पड़ता, जिस सीमा से औसत खर्च या सीमांत खर्च कम होने लगता है।

किन व्यवसायों में ये नियम कहाँ तक लागू होते हैं ?—व्यवसायों का ऐसा स्पष्ट विभाजन नहीं किया जा सकता कि किन में क्रमागत उत्पत्ति-वृद्धि नियम लगता है, और किन में क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास नियम। अन्ततः जाकर प्रत्येक व्यवसाय में ही एक ऐसी सीमा आ जाती है, जब क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास होने लगता है, कारण कि प्रत्येक उत्पत्ति किसी न किसी अंश में प्राकृतिक साधनों पर निर्भर है। सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री मार्शल का कथन है कि उत्पत्ति में जो भाग प्रकृति लेती है, उससे क्रमागत-ह्रास की प्रवृत्ति होती है, और जो भाग मनुष्य लेता है, उससे क्रमागत वृद्धि की प्रवृत्ति होती है। इसका आशय यही है कि कपास अन्न आदि कच्चे पदार्थों की उत्पत्ति या खनिज पदार्थों को निकासी आदि में जो प्रायः शीघ्र ही क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास होता है, उसका कारण इन व्यवसायों में प्रकृति का बड़ा भाग होना है; जब कि तैयार माल बनाने वाले कल कारखानों में बहुत देर तक प्रायः क्रमागत उत्पत्ति-वृद्धि होती है, उसका कारण यह है कि मनुष्य का भाग प्रधान होता है, न कि प्रकृति का।

तैयार माल की उत्पत्ति या कल कारखानों आदि में, बड़ी मात्रा को उत्पत्ति से होने वाली बचत, विज्ञान के अधिकाधिक प्रयोग, श्रम विभाग और मशीनों के उपयोग की वृद्धि, और नित्य नये आविष्कारों की सहायता आदि से, क्रमागत-ह्रास आने की स्थिति क्रमशः स्थगित होती जाती है, और क्रमागत उत्पत्ति-वृद्धि

नियम के प्रयोग की प्रवृत्ति बढ़ती जाती है। यही कारण है कि छोटे छोटे कारखाने प्रतियोगिता में विशेष टिक नहीं पाते, वे लुप्त हो जाते हैं या बड़े कारखानों में मिल जाते हैं, जब कि छोटे और बड़े ज़मींदार प्रायः पास पास बने रहते हैं और एक ही बाजार में अपना कच्चा माल बेचते रहते हैं।

यद्यपि तैयार माल की उत्पत्ति में कच्चे माल की उत्पत्ति की अपेक्षा, क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास नियम काफी देर से लागू होता है, तथापि एक सीमा ऐसी अवश्य आती है, जब कि साहसी को श्रम और पूँजी लगा कर मकान या कारखाने को उसी भूमि पर बढ़ाने में लाभ नहीं होता, वह उससे पृथक् दूसरा मकान या कारखाना बनाता है। कारण स्पष्ट है, पहले मकान या कारखानें में उस सीमा से पहले ही क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास नियम जोरों से लागू होने लगता है, जिससे बचना साहसी के लिये अत्यावश्यक है।

पन्द्रहवाँ अध्याय

धनोत्पत्ति के क्रम

—:*:—

मनुष्य की भिन्न भिन्न विषयों सम्बन्धी कार्य-पद्धति जैसी आज कल दिखलायी पड़ती है, आरम्भ से वैसी ही नहीं रही है, इसमें देश कालानुसार परिवर्तन होता रहा है। इस अध्याय में हमें यह विचार करना है कि मनुष्य के धनोत्पत्ति सम्बन्धी प्रयत्नों में समय समय पर क्या हेर-फेर हुआ है, उत्पत्ति का क्रम क्या रहा है, किन अवस्थाओं में से होकर आज दिन कल कारखानों की वृद्धि का युग आया है। इस विषय का विचार अभी के पद

तथा विनिमय की प्रणाली आदि कई दृष्टियों से किया जा सकता है। साधारणतया इस आधार पर विचार करना सुबोध होता है कि मनुष्य ने प्राकृतिक शक्तियों पर किस प्रकार अधिकाधिक अधिकार प्राप्त किया है। इस दृष्टि से उत्पत्ति के क्रम नीचे लिखे अनुसार हैं:—

१—शिकार अवस्था
२—पशु पालन अवस्था
३—कृषि अवस्था
४—कारीगरी या दस्तकारी अवस्था
५—कल कारखानों की अवस्था

स्मरण रहे कि यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक देश में एक क्रम एक साथ ही आरम्भ तथा समाप्त हो, अथवा किसी देश में एक क्रम के समाप्त होने के बाद ही दूसरा क्रम आवे। भिन्न भिन्न देशों की प्रगति पृथक् पृथक् रही है, और एक देश में एक ही समय में उत्पत्ति के दो तीन क्रम एक साथ भी मिलते हैं।

शिकार अवस्था—प्रारम्भिक अवस्था में मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये विविध पदार्थ उत्पन्न करने या बनाने का कार्य नहीं करता। वह यह जानता भी नहीं था कि पशुओं का पालन तथा कृषि-कार्य कैसे किया जाय। पहले वह जंगल में रहता था, एक-दूसरे से मिल कर गाँव या खेड़े में रहने की आदत न थी। प्रायः प्रत्येक व्यक्ति की केवल खाने पीने की आवश्यकताएँ होती थीं, इन्हें वह स्वयं बिना किसी दूसरे व्यक्ति के सहयोग के, पूर्ण करता था। भोजन के लिये वह शिकार करता, अथवा जंगल में जो कुछ फल आदि मिल जाता, उसी पर निर्वाह कर लेता था। इस अवस्था में श्रम विभाग यदि कुछ होता भी था, तो परिवार के व्यक्तियों में ही।

पशु पालन अवस्था—प्रथमावस्था में मनुष्य को नियमित रूप से, निर्धारित समय पर भोजन मिलना कठिन था। फिर, उसे जंगली जानवरों से अपनी रक्षा करने की भी आवश्यकता प्रतीत हुई। क्रमशः उसमें मिल जुल कर जत्था या टोली बना कर रहने की भावना बढ़ी। उसने पशुओं का पालना सीखा। बकरी, गाय भैंस आदि के दूध से उसकी भोजन की चिन्ता कम हुई। मछलियां पकड़ने के लिये वह जाल और किश्तियां बनाने और नदी और समुद्र-तट का उपयोग करने लगा। इस प्रकार धीरे-धीरे उसने उन्नति में कदम बढ़ाया। पर इस अवस्था में भी वह अधिकतर घूमता फिरता रहता था। हां, वह प्रायः जत्था बना कर रहता था। जहां कहीं किसी जत्थे के लिये तथा उसके पशुओं के लिये खाद्य वस्तुएँ मिलतीं, वहां ही वह कुछ दिन ठहर जाता, पश्चात् किसी और अनुकूल स्थान की खोज करता। उस समय भूमि पर किसी का व्यक्तिगत अधिकार न था, 'सबै भूमि गोपाल की' थी। जिसका जहां जी चाहता, रहता और स्वच्छन्द भ्रमण करता था।

कृषि अवस्था—क्रमशः मनुष्य ने कृषि-कार्य सीखा—जिससे प्रकृति उसके लिये प्रचुर मात्रा में भोजन वस्त्र आदि की सामग्री प्रदान करने लगी। जब उसने कृषि के लिये भूमि तैयार की, तथा उसमें बीज बोया तो फसल तैयार होने तक उसे एक ही स्थान में ठहरना आवश्यक हुआ। इस प्रकार मनुष्य की आवारागिर्दी कम हुई। उसने गांव या खेड़े में स्थायी रूप से रहने की बात सोची। जिस भूमि को जिस व्यक्ति ने जोता बोया, उस पर अब उसी व्यक्ति ने अपना विशेष अधिकार रखना आरम्भ किया। अब भूमि लोगों की व्यक्तिगत सम्पत्ति होने लगी, पर उसके काफी परिमाण में

होने तथा जन-संख्या कम होने से उसके सम्बन्ध में कुछ विशेष झगड़ा होने की बात न थी।

ऐसी अवस्था में प्रत्येक गाँव प्रायः पूर्णतः स्वावलम्बी होता है, उसके निवासी अपनी आवश्यकताओं के पदार्थ मिल जुल कर स्वयं बनाते हैं, वे बाहर के आदमियों के आश्रित नहीं रहते। अधिकतर आदमी खेती करने वाले होते हैं, कुछ मज़दूर उन्हें सहायता करते हैं, और कारीगर खेती के लिये तथा अन्य व्यवहारोपयोगी वस्तुएँ बनाते हैं, या सुधारते हैं। योरप में उद्योग धन्धों की उन्नति होने से पूर्व प्रायः यही अवस्था थी। इस अवस्था में प्रायः पदार्थों का अदल-बदल होता है, मुद्रा द्वारा क्रय-विक्रय नहीं। मज़दूरी भी बहुधा जिन्स में दी जाती है, नकद वेतन नहीं दिया जाता।

इसका सब से अच्छा उदाहरण प्राचीन भारतीय ग्राम-संस्थाएँ है, जो समय के अनेक उलट-फेर होते हुए भी, यहाँ अंगरेज़ों के आने के समय तक अपनी स्वतंत्रता तथा स्वावलम्बन बहुत कुछ बनाये हुए थीं, और अब भी किसी न किसी रूप में अपनी पूर्व महत्ता की सूचना दे रही हैं। प्रत्येक गाँव में कुछ पुश्तैनी कार्य-कर्ता होते थे यथा लुहार, बढ़ई, तेली, नाई, धोबी, जुलाहा, कुम्हार, भंगी, चमार, आदि। पुजारी, पहरेदार, महाजन आदि के कार्य के लिये भी प्रत्येक गाँव में अपनी व्यवस्था थी। निदान, रोजमर्रा की सब साधारण आवश्यकताओं की वहीं की वहीं पूर्ति हो जाती थी। जो चीजें गाँव में नहीं होती थीं, वे बाजार या हाट से ले ली जाती थीं, जो प्रायः प्रति सप्ताह या सप्ताह में दो बार कुछ गाँवों के केन्द्रीय स्थानों पर लगता था। साधारण आवश्यकताओं की वस्तुओं में विशेषतया नमक और लोहा ये दो ऐसी हैं, जो कुछ खास स्थानों में ही मिलती हैं। हल आदि कृषि सम्बन्धी औजारों के लिये लोहे की ज़रूरत

होती है। नमक तो जीवन-निर्वाह की आवश्यक वस्तुओं में से है, पर यह हर कहीं सुगमता से नहीं तैयार हो सकता, अनुकूल भूमि में ही हो सकता है। वहाँ से व्यापारी इसे विविध स्थानों में लेजाकर, बेचते हैं। प्रारम्भिक अवस्था में अन्यान्य वस्तुओं की भाँति नमक का मूल्य जिन्स में ही लिया जाता था। कुछ लोगों का मत है कि नमक और लोहा उन वस्तुओं में से है, जिनके लिये पहले-पहल व्यापार होना आरम्भ हुआ।

अस्तु, कृषि-प्रधान अवस्था में, गाँव साधारणतया स्वावलम्बी होता है। और, जिस तरह गाँव स्वावलम्बी होता है, उसी तरह देश भी अपनी सब आवश्यकताओं की स्वयं पूर्ति करता हुआ स्वावलम्बी हो सकता है। भारतवर्ष ने अति प्राचीन काल से ईसा की अठारहवीं शताब्दी तक स्वावलम्बी जीवन व्यतीत किया। जो वस्तुएँ गाँव में नहीं बनती थीं, उन्हें गाँव वाले तीर्थ-यात्रा के स्थानों या राजधानी आदि के नगरों में जाकर ले आते थे, इसी प्रकार नगर निवासी अपनी कारीगरी के लिये कच्चा माल देहातों से लेते थे। आज कल तो गाँव गाँव तक में विलायती पदार्थों ने प्रवेश कर लिया है। आधुनिक जगत में किसी देश के लिये सर्वथा स्वावलम्बी बना रहना प्रायः असम्भव ही है।

कारीगरी या दस्तकारी अवस्था—क्रमशः मनुष्य की आर्थिक उन्नति होती जाती है, उसकी आवश्यकताएँ बढ़ती हैं। कृषि-अवस्था में उसकी मुख्य आवश्यकताएँ भोजन वस्त्र की होती हैं। ये आवश्यकताएँ सदैव बनी ही रहती हैं। पर ज्यों ज्यों आर्थिक उन्नति होती है, मनुष्य की सब आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली वस्तुओं की तुलना में भोजन वस्त्र का परिमाण नगण्य सा हो जाता है। आज दिन कोई मध्य श्रेणी का व्यक्ति भी अपने घर के कुल पदार्थों की सूची बना कर देखे, उनमें कितनी ही वस्तुएँ मिलेंगी, जिनका भोजन वस्त्र से प्रत्यक्ष या

विशेष सम्बन्ध नहीं। जिस परिवार में सौ या डेढ़ सौ रुपया माह-वार खर्च होता है, उसमें सम्भव है केवल भोजन वस्त्र का विशुद्ध व्यय चालीस पचास रुपये से अधिक न हो। शेष सब खर्च अन्य वस्तुओं में होता है। ज्यों ज्यों अधिक आय वाले परिवार का विचार करेंगे, त्यों त्यों उनका, कुल खर्च में, भोजन वस्त्र के व्यय का अनुपात कम मिलेगा। इससे स्पष्ट है कि मनुष्य की अन्य वस्तुओं की आवश्यकताएँ बढ़ती जाती हैं। ये वस्तुएँ जिन कच्चे पदार्थों से बनती हैं, वे तो कृषि-द्वारा ही उत्पन्न होते हैं, परन्तु उनको तैयारी में पीछे और भी विशेष श्रम करना होता है। उसके लिये शिल्प, दस्तकारी या कारीगरी की ज़रूरत होती है।

कारीगर को ऐसी जगह रहने की ज़रूरत होती है, जहाँ उसे अपने काम के लिये कच्चा पदार्थ मिल सके, तथा उसके तैयार किये हुए सामान के खरीदार भी हों। इस प्रकार उसे बस्ती में तो रहना होता ही है। बहुधा उसे उसी प्रकार के दूसरे कारीगर के पास रहने में सुविधा होती है। इस तरह एक प्रकार के बहुत से अथवा भिन्न भिन्न कार्य करने वाले थोड़े थोड़े कारीगरों की एक बस्ती हो जाती है, जिसमें कृषक अपेक्षाकृत कम होते हैं। यह नगर-निर्माण का मार्ग है। कारीगरों की वृद्धि के साथ नगरों का बढ़ना अनिवार्य है।

कारीगर (बहुधा अपने परिवार की सहायता से) स्वतंत्र रूप से श्रम करता है, किसी की अधीनता में नहीं। वह जो पूँजी लगाता है, वह स्वयं उसकी ही होती है, चाहे कुछ दशाओं में वह उधार ली हुई ही हो। जो वस्तु वह तैयार करता है, उस पर उसीका स्वामित्व होता है, वह उसे अपने नगर में अथवा कभी कभी दूसरे स्थान में बेचने का प्रबन्ध करता है। उससे जो आय होती है, वह पूर्ण रूप से उसकी होती है। उसमें जो

तरह तरह का खर्च है, उसे चुकाने का दायित्व उसी पर रहता है, उदाहरणार्थ दुकान का किराया, कच्चे माल का मूल्य, पूँजी का सूद आदि। इस अवस्था में उत्पत्ति छोटी मात्रा में होती है, (बड़ी मात्रा में नहीं), जिसके लाभ-हानि के विषय में आगे लिखा जायगा। कारीगरी की अवस्था में पदार्थों का अदल-बदल करने की सुविधा नहीं होती, क्रय-विक्रय होता है, माध्यम के लिये मुद्रा का प्रयोग किया जाता है।

योरप में मध्य युग के अन्तिम भाग से लेकर यंत्र-युग के प्रारम्भ अर्थात् अठाहरवीं शताब्दी के अन्त तक, और भारतवर्ष में तो अति प्राचीन काल से लेकर आधुनिक औद्योगिक क्रान्ति तक, यह कारीगरी की अवस्था रही है।

कारीगर अपने कार्य की उन्नति, तथा अपनी श्रेणी के व्यक्तियों की अन्य श्रेणी वालों से समुचित रक्षा करने के हेतु अपने संघ बना लेते हैं। राज्य भी उनके अधिकारों की रक्षा करने तथा उनके तैयार किये हुए माल की बिक्री को प्रोत्साहित करने के लिये आवश्यक नियम बनाता है। भारतवर्ष में अब से सवा दो हजार वर्ष पूर्व दोनों प्रकार के उदाहरण मिलते हैं, जब कि योरप अधिकांश में अज्ञान-निमग्न और आर्थिक दृष्टि से नितान्त अवनत था। आचार्य कौटिल्य ने अपने सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्र में कई प्रकार के व्यवसाय संघों या श्रेणियों का उल्लेख किया है। उसने इनके तीन भेद किये हैं:—वर्षक (किसान), वैदेहक (व्यापारी) और याजक (पुरोहित वैद्य आदि)। ये संस्थाएँ पर्याप्त शक्तिशाली होती थीं। ये अपने झगड़ों का निपटारा स्वयं करती थीं। जो व्यक्ति संघ द्वारा काम कराना चाहता था, उसे संघ के मुखिया से बात-चीत करनी होती थी। यदि इनका माल चुराया जाता या नष्ट किया जाता तो राज्य को उसकी क्षति-पूर्ति करनी होती

थी। राज्य के अपने कारखाने भी होते थे। इनके नियम ऐसे होते थे कि इनसे प्रजा के (संघों के) कारखानों को हानि न पहुँचे; श्रम स्वतंत्र मजदूरी पर कराया जाता था, बेगार में नहीं; और शागिर्दों तथा नौसिखियों को काम सीखने की सुविधा रहती थी।

भारतवर्ष अपने शिल्प तथा दस्तकारी के लिये अब से सौ वर्ष पहले तक विश्व-विख्यात रहा है। यहाँ के कते सूत को, हाथ से बुनी मलमल विदेशियों को चकित करती थी; यहाँ के तैयार किये हुए बढ़िया माल की ओर अन्य देशों के निवासी ईर्षा और प्रतिस्पर्द्धा की दृष्टि रखते थे। मशीन-युग में पासा बिल्कुल पलट गया—जो भारत औरों के लिये आदर्श और अनुकरणीय था, अब अपनी साधारण आवश्यकताओं के लिये विदेशों का मोहताज है।

कल-कारखानों की अवस्था—उत्पत्ति की उपर्युक्त अवस्थाएँ थोड़े बहुत रूप में इस समय भी विद्यमान हैं, तथापि अब कल-कारखानों की वृद्धि हो रही है। औद्योगिक दृष्टि से उन्नत देशों में अधिकांश उत्पत्ति कल-कारखानों द्वारा ही होती है। इस पद्धति की विशेषताएँ ये हैं :—

(१) श्रम विभाग के विकसित सिद्धान्तों द्वारा काम होता है।

(२) भाफ, पानी या बिजली आदि की शक्ति से चलने वाले यंत्रों का उपयोग होता है।

(३) बड़ी मात्रा की उत्पत्ति होती है।

इनमें से प्रथम और द्वितीय विशेषता के सम्बन्ध में पहले लिखा जा चुका है। बड़ी मात्रा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अगले अध्याय में लिखा जायगा।

कल-कारखानों द्वारा होने वाली उत्पत्ति पूँजीवाद पद्धति में भी हो सकती है, और साम्यवाद पद्धति में भी। साम्यवाद पद्धति अभी केवल रूस में ही है। पूँजीवाद पद्धति में, काम करने वाले मज़दूर स्वतंत्र नहीं होते, वे सहस्रों लाखों की संख्या में एकत्रित होकर, एक पूँजी वाले व्यक्ति या कम्पनी के लिये माल तैयार करते हैं। उन्हें आवश्यक कच्चे माल खरीदने तथा तैयार माल बेचने से कुछ प्रयोजन नहीं। न उन्हें आवश्यक पूँजी का प्रबन्ध ही करना होता है। उनका काम तो माल तैयार करना है। जो माल तैयार होगा, उस पर उनका कुछ स्वामित्व नहीं, उसका मूल्य मुनाफा आदि उन्हें न मिलेगा, (कल-कारखाने वाले को मिलेगा), उन्हें तो केवल निर्धारित मज़दूरी ही दी जायगी। इस पद्धति में उत्पादन व्यय कम हो जाता है, माल सस्ता हो जाता है, दस्तकार अर्थात् हाथ से काम करने वाले प्रतियोगिता में नहीं ठहर पाते। उन्हें बहुधा अपना धन्धा छोड़ने को विवश होना पड़ता है। अनेक शिल्पी और दस्तकार अपने स्वतंत्र धंधे को छोड़ कर कल-कारखानों में नौकरी करने लगते हैं, और बहुत से बेकार ही हो जाते हैं। अस्तु, इस युग में, विविध कारणों से कुछ स्वतंत्र शिल्पी या दस्तकार रहते तो हैं, पर उनकी संख्या, असंख्य वेतन-भोगी श्रमजीवियों की तुलना में बहुत कम होती है। परन्तु यह बात औद्योगिक दृष्टि से उन्नत देशों के विषय में ही है। भारतवर्ष आदि जिन देशों में मशीनों का अभी यथेष्ट प्रचार नहीं हुआ है, कारखानों में काम करने वाले श्रमजीवियों की अपेक्षा कारीगरों की संख्या कहीं अधिक है, हां, प्रतियोगिता के कारण उनमें से अधिकांश की आय, अथवा आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं है।

अब कल-कारखानों द्वारा होने वाली उत्पत्ति की एक नवीन अवस्था दृष्टिगोचर होने लगी है, जिसमें एक व्यवसाय के

या उसकी शाखाओं के बहुत से कारखाने होते हैं; इसे भीम-काय व्यवसाय कहते हैं इसके सम्बन्ध में अगले अध्याय में विचार किया जायगा। पूँजीवाद-पद्धति में पूँजी और श्रम का प्रायः विरोध होता है, उस पर यहाँ संक्षेप में प्रकाश डालना आवश्यक है।

पूँजी और श्रम का हित-विरोध—पूँजीवाद-पद्धति के अनुसार, कल-कारखानों से होने वाली उत्पत्ति में प्रायः पूँजी और श्रम का संघर्ष होता है। कुछ श्रमी आरामतलब होते हैं, वे कारखाने की हानि-लाभ का विचार नहीं करते। और, पूँजीपति का दृष्टि-कोण यह रहता है कि प्रत्येक श्रमी अधिक से अधिक काम करे; निर्धारित वेतन लेते हुए, श्रमी जितना अधिक काम करेगा, उतना ही पूँजीपति को लाभ अधिक होगा। इसलिये वह बहुधा श्रमी के आराम और उन्नति आदि का विचार नहीं करता—वह इस विषय में केवल क़ानून की माँग पूरी करता है, और कभी कभी तो स्वार्थ-वश उसकी ओर भी काफी ध्यान नहीं देता। उसके पास पैसे का बल होता है, इसलिये वह अनेक कठिनाइयों का सामना कर सकता है। मज़दूरों को बहुधा उसकी इच्छानुसार निर्धारित साधारण वेतन पर काम करना पड़ता है। यदि वे काम न करें, तो कभी कभी पूँजीपति उन्हें बाध्य करने के लिये कारखाना बन्द कर देता है। इसे द्वारावरोध* कहते हैं। कारखाना बन्द होने पर, उत्पत्ति न होने से पूँजीपति को आय की कुछ हानि तो होती है, परन्तु, उसे खाने पीने की वस्तुओं की चिन्ता नहीं होती। उसका काम बहुत समय तक मज़े में चलता रहता है। इसके विपरीत, अनेक मजदूरों की तो प्रायः इतनी

* Lock-out.

भी सामर्थ्य नहीं होती कि काम करने पर दो चार दिन भी अपना निर्वाह कर सकें।

विगत वर्षों में उन्होंने अपना संगठन किया है, कुछ समय से भारतवर्ष में भी उनका संगठन हो रहा है। इससे उनकी सामर्थ्य कुछ बढ़ी है। कहीं कहीं वे संगठित हड़ताल कर देते हैं। जिस कारखाने में हड़ताल होती हैं, उसमें दूसरे मजदूर भी काम करना स्वीकार नहीं करते। इस प्रकार वे अपनी वेतन बढ़वाने, या अन्य असुविधाओं को दूर कराने के प्रयत्न में सफल हो जाते हैं। परन्तु ऐसी स्थिति बहुत कम स्थानों में ही है, अन्यत्र या तो काम बन्द करने वाले मजदूरों में ही फूट पड़ जाती है, अथवा कुछ व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं से प्रेरित होकर कारखाने के प्रबन्धक या स्वामी की शर्तें मानने को वाध्य हो जाते हैं, अथवा यदि वे किसी प्रकार अपनी माँग पर डटे रहते हैं, तो दूसरे श्रमजीवी उनकी जगह काम करने को आ जाते हैं, और यदि इनके आने में कुछ बाधा डाली जाती है तो सरकार हस्तक्षेप करती है। निदान, वर्तमान अवस्था में, श्रमियों में पूँजीपतियों का सामना करने की यथेष्ट क्षमता नहीं है। और, क्षमता हो या न हो, यह तो सर्व विदित ही है कि श्रम और पूँजी में—जब कि उत्पत्ति बड़ी मात्रा में हो, और वह केवल श्रमियों द्वारा या राज्य द्वारा न हो—हित-विरोध रहता है।

इसे दूर करने के उपाय—यह हित-विरोध यों तो स्वयं पूँजीपतियों के लिये भी कुछ हानिकर ही है, किन्तु श्रमियों के लिये तो और भी अधिक कष्ट-प्रद है। सर्वसाधारण उपभोक्ताओं की दृष्टि से भी यह बुरा ही है, कारण, उन्हें अपनी आवश्यक-ताओं की पूर्ति के लिये यथेष्ट सामान नहीं मिलता, जो मिलता है, उसके लिये उन्हें अधिक कीमत देनी पड़ती है। देश की धनोत्पत्ति कम हो जाती है। इन सब बातों से बचने के लिये—

श्रम और पूँजी का हित-विरोध दूर करने के लिये—भिन्न भिन्न स्थानों में निम्न लिखित उपाय काम में लाये जाते हैं :—

(१) कारखाने की उत्पत्ति बढ़ाने में यदि श्रमियों का स्वार्थ हो, तो वे उसमें अपनापन अनुभव करने और यथा सम्भव उत्साहित रह कर उत्पत्ति बढ़ाने में दत्त-चित्त हों। इस लिये कुछ कारखाने वाले ऐसा निश्चय कर देते हैं कि कारखाने में एक निश्चित आय से अधिक जितना मुनाफ़ा होगा, वह या उसका अमुक भाग मज़दूरों को दिया जायगा। ऐसी दशा में मज़दूर अधिक जी लगा कर काम करते हैं, वे कारखाने के हानि-लाभ को अपना हानि-लाभ समझते हैं। इसके फल-स्वरूप बहुधा कारखाने की आय बढ़ जाती है। और, मुनाफे में मज़दूरों का भाग जितना अधिक होता है, उतना ही मज़दूरों और पूँजीपति का संघर्ष कम हो जाता है।

(२) कारखाने में, मज़दूरों के अपनेपन का भाव पैदा करने का दूसरा उपाय यह है कि उन्हें कारखाने में साझीदार बना लिया जाय। मज़दूर थोड़ी थोड़ी पूँजी अपने पास से, अथवा उधार लेकर कारखाने में लगा दें, और मालिक के साथ लाभ-हानि के हिस्सेदार हों। इससे पूँजीपति और श्रमियों का पारस्परिक सम्बन्ध अधिक दृढ़ हो जाता है, और श्रमी हर तरह कारखाने की आय बढ़ाने के इच्छुक रहते हैं।

(३) वर्तमान अवस्था में श्रमी अलग हैं, और पूँजीपति अलग। ये दो पृथक् पृथक् श्रेणी हैं, इनके स्वार्थ भिन्न भिन्न हैं। इसलिये श्रेणी-संघर्ष है, हित-विरोध है। यदि द्वैत-भाव हट जाय तो हित-विरोध भी न रहे, अर्थात् यदि कोई व्यवसाय एक ही श्रेणी के हाथ में हो—सभी श्रमी थोड़ी पूँजी लगा कर उसे चलावें, फिर चाहे उन सब को पूँजीपति कहा जाय और चाहे वे सब श्रमी कहलावें—तो फिर झगड़ा या संघर्ष होगा

ही किसके ! इस प्रणाली को सहयोग, या सहकारिता-मूलक व्यवस्था* कहते हैं।

(४) यदि उत्पादन कार्य मजदूरों की सरकार द्वारा किया जाय, वही सब खर्च करे, उसी की सब माल हो और वही उत्पन्न माल को उत्पादकों में वितरण करे तो भी उपर्युक्त उद्देश पूरा हो जाता है, जैसा कि आज कल रूस में होता है।

सोलहवाँ अध्याय

उत्पत्ति की मात्रा

—:*:—

पिछले अध्यायों में उत्पत्ति के साधनों तथा उत्पत्ति के क्रम का विचार कर चुकने पर, अब इस अध्याय में इस बात का विवेचन करना है कि उत्पत्ति की मात्रा का, उत्पादन कार्य पर क्या प्रभाव पड़ता है; यदि छोटी मात्रा में उत्पत्ति की जाय तो उसमें क्या लाभ-हानि है, और यदि बड़ी मात्रा में की जाय तो क्या सुविधाएँ या असुविधाएँ होंगी।

प्राचीन काल में, उत्पत्ति छोटी मात्रा में होती थी; जैसा कि पिछले अध्याय में बताया जा चुका है, बहुधा एक ही आदमी अपनी भूमि पर, अपने श्रम और पूँजी से उत्पत्ति करता था, वह आवश्यकतानुसार अपने परिवार के व्यक्तियों से सहायता ले लेता था। क्रमशः कुछ कुछ आदमियों ने मिल कर कार्य करना आरम्भ किया, अब तो बहुत-सा उत्पादन कार्य बड़ी बड़ी पूँजी से कल कारखानों में मशीनों द्वारा होता है। एक एक जगह सैकड़ों हज़ारों आदमियों के सहयोग से, श्रम विभाग के विकसित

* Co-operative Organisation.

सिद्धान्तों के अनुसार, बड़ी मात्रा की उत्पत्ति होती है। हाँ, इससे छोटी मात्रा की उत्पत्ति सर्वथा बन्द नहीं हुई है, वरन् जैसा आगे मालूम होगा, कुछ दशाओं में अब छोटी मात्रा की उत्पत्ति को ऐसी सुविधाएँ प्राप्त हो गयी हैं, जो पहले प्राप्त नहीं थीं।

छोटी मात्रा की उत्पत्ति से लाभ-हानि—अब हम यह विचार करते हैं कि छोटी मात्रा की उत्पत्ति से, तथा बड़ी मात्रा की उत्पत्ति से क्या लाभ-हानि है। पहले छोटी मात्रा का विषय लें। इसमें सारे काम का सम्यग् निरीक्षण स्वयं व्यवस्थापक कर सकता है, हिसाब-किताब भी बहुत रखना नहीं पड़ता। इसलिये उत्पादन व्यय में बचत होती है। व्यवस्थापक का श्रमियों से सीधा व्यक्तिगत सम्पर्क रहता है। वह उनसे यथा-योग्य अच्छी तरह काम ले सकता है, उन्हें आवश्यकतानुसार उत्साहित कर सकता है, तथा उनकी त्रुटियों एवं शिकायतों को जल्दी दूर कर सकता है। इससे उनमें और मालिक में उस संघर्ष की नौबत नहीं आती, जो आधुनिक औद्योगिक संसार की नित्य होने वाली कष्ट-प्रद घटना है। छोटी मात्रा की उत्पत्ति में, अनेक कारीगर और श्रमी घर बैठे स्वतंत्रता-पूर्वक काम करते हैं, उन्हें किसी की अधीनता में रहना नहीं पड़ता, और न लगातार निर्धारित घंटे काम करना पड़ता है; वे अपनी इच्छा और सुविधानुसार शाम सवेरे जब चाहें काम कर सकते हैं। यही नहीं, उनके परिवार की स्त्री और बच्चे भी अपनी योग्यता और सुविधानुसार उसमें सहायक हो सकते हैं, जो कुछ दशाओं में बड़ी मात्रा की उत्पत्ति में—कल-कारखानों द्वारा होने वाले उत्पादन कार्य में—भाग नहीं ले सकते, या जिनका वहाँ जाकर काम करना उचित नहीं है।

जिस देश में छोटी मात्रा की उत्पत्ति अधिक होती है, वहाँ व्यवसायी इने-गिने नहीं होते, काफी संख्या में होते हैं, इससे

धन का असमान वितरण और उससे होने वाली सामाजिक अशान्ति और असंतोष कम होता है। छोटी मात्रा की उत्पत्ति करने वाले व्यक्ति अपने माल के उपभोक्ताओं अर्थात् ग्राहकों के निकट और उनसे अधिक सम्पर्क में रहते हैं, अतः वे उनकी आवश्यकताओं का बहुत-कुछ ठीक ठीक अनुमान कर सकते हैं, और उसको लक्ष्य में रख कर ही माल तैयार करते हैं। अतः उनके पास बहुत-सा माल व्यर्थ पड़ा नहीं रहता, जिसकी खपत के लिये उन्हें नये नये बाज़ारों की खोज करनी पड़े, और उनकी प्राप्ति के उद्योग में एक दूसरे से झगड़ा मोल लेना हो।

छोटी मात्रा की उत्पत्ति का दूसरा पहलू भी है। प्रति वस्तु उत्पादन व्यय काफी अधिक होता है। छोटे व्यवसायपति अन्य श्रमियों की क्या, अपनी कार्य-कुशलता का भी यथेष्ट उपयोग नहीं कर सकते; उन्हें अपना समय और शक्ति साधारण कार्यों में भी लगानी होती है, जिससे उस अंश तक उत्पादकता कम हो जाती है।* कुछ काम ऐसे हैं, जो छोटी मात्रा में किये ही नहीं जा सकते, जैसे रेल जहाज़ आदि का निर्माण।

बड़ी मात्रा की उत्पत्ति; भीम-काय व्यवसाय— बड़ी मात्रा की उत्पत्ति से होने वाली लाभ-हानि का विचार करने से पूर्व उनकी एक विशेष अवस्था, भीम-काय व्यवसाय, के विषय में आवश्यक बातें और जान लेनी चाहिये। आज कल अमरीका, जर्मनी आदि में किसी एक स्थान पर बड़ी मात्रा की उत्पत्ति करने वाला एक ही कारखाना नहीं होता, वरन्,

* छोटी मात्रा की उत्पत्ति करने वाले, सहयोग समितियों द्वारा अपना संगठन करके कच्चे माल ख़रीदने और तैयार माल बेचने की वे सुविधाएँ प्राप्त कर सकते हैं, जो बड़ी मात्रा की उत्पत्ति करने वालों को हुआ करती हैं।

कहीं कहीं 'भीम-काय व्यवसाय'* की स्थापना हुई है। इसके अन्तर्गत एक बड़े व्यवसाय के या उसकी भिन्न भिन्न शाखाओं के बहुत से कारखाने होते हैं, उन सब का सर्वोच्च प्रबन्धक तथा आर्थिक नियंत्रक एक ही व्यक्ति या कम्पनी होती है। इसको कुछ लेखकों ने बड़ी मात्रा की उत्पत्ति न कह कर 'बड़े परिमाण का प्रबन्ध'† संज्ञा प्रदान की है।

इसके दो भेद हैं:—(१) उत्तरोत्तर मिलन‡, (२) समान व्यवसायों का, या क्षैतिज मिलन§। उत्तरोत्तर मिलन में एक व्यवसाय के उत्तरोत्तर होने वाले विविध कार्यों को एक ही प्रबन्ध में लाया जाता है। उदाहरणार्थ एक ही कम्पनी लोहे की खान ख़रीदे, खान से लोहा निकाले, वह अपनी ही रेल और जहाज़ों से उसे शुद्ध करने वाले अपने ही कारखानों में भेजे, और वही शुद्ध कराये हुए लोहे की वस्तुएँ बना कर भिन्न भिन्न स्थानों की मंडियों में विक्रयार्थ भेजे। यह मिलन विशेषतया ऐसे व्यवसाय में ही हो सकता है, जिसका आवश्यक कच्चा पदार्थ किसी क्षेत्र विशेष में मिल सके, तथा जिसकी मंडी सहज ही हस्तगत हो सके, अर्थात् जिसमें प्रतियोगिता न हो।

जब किसी व्यवसाय के बहुत बड़े बड़े तथा भिन्न भिन्न स्थानों के कारखानों को एक प्रबन्धक के अधीन कर दिया जाता है, तो उसे क्षैतिज मिलन कहते हैं। बहुधा बड़ी मात्रा की उत्पत्ति से, कारखानों की संख्या न बढ़ते हुए भी उनके कार्य का परिमाण बढ़ता जाता है। सब कारखाने एक ही स्थान पर स्थापित

---

* Giant Business.

† Large Scale Management.

‡ Vertical Combination.

§ Horizontal Combination.

करना लाभदायक नहीं होता। आवश्यकतानुसार मितव्ययिता का विचार करके, वे भिन्न भिन्न स्थानों में रखने पड़ते हैं। हाँ, प्रबन्ध सब कारखानों का, एक ही कम्पनी के अधीन रखा जा सकता है, और रखा जाने का प्रयत्न किया जाता है। इससे भिन्न भिन्न स्थानों में खरीदा हुआ कच्चा माल, उसे खरीदने के स्थान से नज़दीक के कारखाने में भेजा जाता है। इस प्रकार कच्चा माल इकट्ठा खरीदने से तथा उसे नज़दीक के कारखाने में भेजने से बचत होती है। कम्पनी सब कारखानों के लिये मशीनें इकट्ठी ही खरीदती है, इस से उसे वे किफ़ायत से मिल जाती हैं; सब कारखानों का प्रबन्ध इकट्ठा होने से इस में भी बचत होती है। किसी अन्य कम्पनी आदि से प्रतियोगिता या स्पर्धा कम होती है, इससे यह कम्पनी एकाधिकारी की भाँति अपनी वस्तु का मूल्य कुछ बढ़ा कर अधिक लाभ उठा सकती है।

बड़ी मात्रा की उत्पत्ति में बचत—ऊपर कहा गया है कि बड़ी मात्रा की उत्पत्ति में कई प्रकार की बचत होती है, इसे कुछ स्पष्ट करना उपयोगी होगा। यह तो पहले कहा ही जा चुका है कि बड़ी मात्रा की उत्पत्ति अधिकतर कल-कारखानों में होती है। बड़े कल-कारखानों में यंत्रों के सुधार और मरम्मत के लिये अपनी व्यवस्था होती है, इसके लिये उन्हें बाहरवालों की सहायता लेनी नहीं पड़ती। इससे बचत होना स्वाभाविक ही है। फिर बढ़िया यंत्रों के कारण बिजली और कोयले आदि की सञ्चालक शक्ति का व्यय भी कम होता है।

बड़े कारखाने वालों को, छोटी मात्रा की उत्पत्ति वालों की अपेक्षा, कच्चा माल अधिक परिमाण में, थोक खरीदना होता है, इससे उन्हें यह सस्ता मिल जाता है, और उसकी ढुलाई आदि का खर्चा भी औसतन कम लगता है। इन्हें पूँजी भी कम

सूद पर मिल जाती है। इन्हें अपना माल बेचने में भी बचत होती है, कारण, इनके पास अनेक प्रकार का काफी सामान रहने से ये ग्राहकों की विभिन्न रुचि के अनुसार वस्तुएँ दे सकते हैं। इन्हें अपने यहाँ तैयार माल भी औसतन कम रखना होता है।

बड़ी मात्रा की उत्पत्ति में, भूमि की आवश्यकता औसतन कम होती है, अर्थात् किसी छोटी मात्रा के एक कार्य के लिये जितनी भूमि चाहिये; उससे सौ गुना उत्पादन करने वाले कारखाने के लिये सौ गुना भूमि नहीं चाहिये, सम्भव है, बीस-पच्चीस गुणा से ही काम चल जाय। इससे लगान का खर्च कम लगता है।

छोटी मात्रा की उत्पत्ति में कुछ पदार्थ अवशिष्ट रह जाते हैं, प्रायः इनका कुछ उपयोग नहीं हो पाता; बड़ी मात्रा की उत्पत्ति में इन अवशिष्ट पदार्थों को यथा-सम्भव व्यर्थ नहीं जाने दिया जाता, इनसे अन्य पदार्थ बनाये जाते हैं। यहाँ तक कि कोयले की राख आदि का भी उपयोग होता है, अथवा उसे बेच कर काफी दाम उठाये जाते हैं।

माल बेचने में विज्ञापन का कितना भाग होता है, यह सर्व-विदित है, और इस सम्बन्ध में कुछ अन्यत्र लिखा भी गया है। अस्तु, बड़ी मात्रा की उत्पत्ति वाले जितने अधिक परिमाण में तथा जितने कम मूल्य में अपनी वस्तुओं का विज्ञापन कर सकते हैं, छोटी मात्रा वाले नहीं करा सकते। इन्हें एजन्ट, दलाल या प्रचारक भी औसतन कम रखने होते हैं। इसका अर्थ यह है कि बड़ी मात्रा वालों के बिक्री-खर्च के इन अंशों में काफी बचत होती है।

ऊपर जो भिन्न भिन्न प्रकार की बचत बतायी गयी है, इसके मुख्य दो भेद किये जा सकते हैं:—(१) बाह्य, और (२)

आभ्यन्तरिक। बाह्य बचत में वह बचत गिनी जाती है, जो किसी उद्योग धन्धे की व्यापक रूप से होने वाली उन्नति के कारण होती हो, उस उद्योग धन्धे के किसी विशेष कारखाने की व्यवस्था आदि के कारण नहीं। उदाहरणवत् जब कोई व्यवसाय किसी विशेष स्थान पर केन्द्रीभूत हो जाता है, तो उसके कारखानों को उसकी मशीनें, औजार तथा कच्चा माल मँगाने, और तैयार माल बाहर भेजने की बड़ी किफायत होने लगती है, यातायात की सुविधाएँ हो जाती हैं, तथा उस व्यवसाय सम्बन्धी विविध उपयोगी बातों का ज्ञान सहज ही प्राप्त होने लगता है। इन सब बातों से व्यवसाय सम्बन्धी खर्च में बचत होती है।

आभ्यन्तरिक बचत में वह बचत समझी जाती है, जो किसी व्यवसाय के एक विशेष कार्यालय की व्यवस्था आदि के कारण हो। उदाहरणवत श्रम विभाग और अच्छी तरह करने, बढ़िया मशीनों के उपयोग करने, संचालन शक्ति (भाफ या बिजली आदि) के उपयोग में मितव्ययिता होने, आदि से बहुत बचत हो सकती है। सुयोग्य प्रबन्धक ऐसी बहुत सी बातें सोच सकता है, और उन्हें सुविधानुसार कार्यान्वित कर सकता है।

अन्य लाभ—उपर्युक्त बचत के परिणाम-स्वरूप, बड़ी मात्रा की उत्पत्ति में लागत-खर्च कम होता है। इससे समष्टि रूप से समाज को बड़ा लाभ होता है। सर्व साधारण उपभोक्ताओं को भी फायदा है, कारण कि इससे वस्तुओं का मूल्य प्रायः कम हो जाता है, उपभोक्ता पदार्थों का अधिक परिमाण में, या अधिक संख्या में उपभोग कर सकते हैं। कुछ दशाओं में, छोटी मात्रा की उत्पत्ति की अपेक्षा, बड़ी मात्रा की उत्पत्ति करने वाले श्रमजीवियों को अधिक वेतन तथा कार्य करने में अधिक सुविधाएँ दे सकते हैं। प्रत्येक आदमी को उसकी योग्यता के अनुसार काम मिलता है, साधारण कार्य के लिये साधारण कुशलता के

आदमी रहते हैं, और विशेष कार्यों के वास्ते उच्च वेतन और अधिक योग्यता वाले वैज्ञानिकों तथा विशेषज्ञों की नियुक्ति की जा सकती है।

बड़ी मात्रा की उत्पत्ति के कामों में नये बढ़िया से बढ़िया यंत्रों का उपयोग हो सकता है, और यंत्रों और आविष्कारों सम्बन्धी विविध प्रयोग और परीक्षण किये जा सकते हैं। इससे उत्पत्ति की वृद्धि होती है। बहु-व्यय-साध्य होने के कारण ये बातें छोटी मात्रा की उत्पत्ति वाले कार्य में सम्भव नहीं हैं। बड़े बड़े कल-कारखानों में ही इनके लिये हज़ारों लाखों रुपये खर्च किये जा सकते हैं। बड़ी मात्रा की उत्पत्ति वालों का बाज़ार बहुत विस्तृत होता है, वे विविध-स्थानों में होने वाले कीमत के उतार-चढ़ाव से परिचित रहते हैं। यदि एक स्थान पर उन्हें कच्चा माल मँहगा मिलता है, या उनके तैयार माल की बिक्री कम होती है तो उनके लिये दूसरे अनेक स्थानों का क्षेत्र खुला रहता है।

कुछ विरोधक बातें—एक सीमा के बाद, ज्यों ज्यों कोई व्यवसाय बढ़ता है, उसका प्रबन्ध एक व्यक्ति द्वारा योग्यता तथा मितव्ययिता पूर्वक होना कठिन हो जाता है; क्रमशः बड़ी मात्रा की उत्पत्ति से होने वाली बचत में कमी होने लगती है, और औसत खर्च बढ़ने लगता है। अन्ततः व्यवसाय की और अधिक वृद्धि हानिकर होती देख कर, उसे रोक देना पड़ता है।

बड़ी मात्रा की उत्पत्ति में व्यवस्थापक अर्थात् प्रबन्धक और साहसी विशेष कार्य-कुशल होने चाहिये, उनके आवश्यक गुण हर किसी में नहीं होते। अतः साधारण आदमी को उसमें सफलता नहीं मिलती। विफलता की आशंका से अनेक आदमी उसका उत्तरदायित्व नहीं लेते। इसके विपरीत, उन्हें छोटी मात्रा की उत्पत्ति के कार्य में सफलता की बहुत आशा होती है, और इसलिये वे उसी की ओर आकर्षित होते हैं।

आधुनिक वैज्ञानिक उन्नति से छोटी छोटी परन्तु खूब काम करने वाली मशीनें, तथा बिजली आदि की संचालक शक्ति घर घर पहुँच सकने से अब अनेक स्वाधीनता-प्रेमी व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता की रक्षा करते हुए (कारखानों के श्रमियों की तरह किसी की अधीनता में न रहते हुए) उत्पादन कार्य करना पसन्द करते हैं; चाहे इसमें उन्हें अपने परिश्रम का फल कुछ कम ही मिले। फिर, आज कल शिक्षा, साहित्य, समाचार-पत्रों तथा तार, टेलीफोन और बेतार के तार आदि सम्वाद-वाहक यंत्रों के अधिकाधिक प्रचार के कारण छोटे छोटे व्यवस्थापक भी बाजार भाव से सहज परिचित रह सकते हैं, कोई बात छिपी नहीं रहती। इससे छोटी मात्रा की उत्पत्ति की एक बाधा दूर होकर, उसकी ओर प्रवृत्ति बढ़ने में सहायता मिल रही है।

छोटी मात्रा की उत्पत्ति करने वालों में सहकारिता की भावना बढ़ने पर, उन्हें कुछ बचत हो सकती हैं; कच्चे माल, औजार और यंत्र खरीदने में, तैयार माल को बेचने और अवशिष्ट माल का उपयोग करने में, एवं आवश्यक रुपया उधार लेने में सहकारिता द्वारा छोटे उत्पादकों को भी बहुत लाभ हो सकता है। यह भी बड़ी मात्रा की उत्पत्ति के विरुद्ध, और छोटी मात्रा की उत्पत्ति के पक्ष की बात है।

कुछ आदमी मशीन के बने हुये माल की अपेक्षा हाथ से बना हुआ ही अधिक पसन्द करते हैं, और उसके लिये अपेक्षाकृत कुछ अधिक मूल्य भी देने को तत्पर रहते हैं। ऐसा माल छोटी मात्रा में ही तैयार हो सकता है, उदाहरणार्थ शाल दुशाले, कालीन, हाथ का कते हुए सूत का, हाथ से बुना बढ़िया कपड़ा, धातु या लकड़ी का बारीक काम। जो काम बहुत मोटा-झोटा होता है, जिसमें निपुणता की आवश्यकता नहीं होती, जिसमें

कच्चा माल बहुत चाहिये वह भी छोटी मात्रा में ही उत्पन्न हो सकता है, यथा मोटा खद्दर, मिट्टी की ईंटें। मशीनों तथा उनसे बनी हुई कल पुर्जों वाली चीज़ों, जैसे मोटर, बाइसिकल, घड़ी आदि को सुधारने का काम बड़ी मात्रा में नहीं हो सकता, इसके लिये छोटी मात्रा की उत्पत्ति के ही कार्यों की आवश्यता होती है।

बड़ी मात्रा की उत्पत्ति से हानियाँ—अब हम बड़ी मात्रा की उत्पत्ति से होने वाली हानियों का विचार करते हैं। स्मरण रहे कि अधिकांश हानियाँ पूँजीवाद-पद्धति में ही होती हैं; जब साम्यवाद में, सरकार द्वारा बड़ी मात्रा की उत्पत्ति होती है, तो वे हानियाँ नहीं होतीं। बड़ी मात्रा की उत्पत्ति करने वालों के बहुधा 'ट्रस्ट' बन जाते हैं, जो बाजार के एक बड़े भाग पर एकधिकार-सा प्राप्त कर लेते हैं। इनकी प्रतियोगिता में छोटे उत्पादक और दुकानदार टिक नहीं सकते, उन्हें प्रायः बड़े बड़े कारखानों में श्रमजीवी बनने की नौबत आ जाती है, जिनकी आर्थिक स्थिति व्यवस्थापकों की तुलना में अत्यन्त चिन्तनीय होती है। अस्तु, उपर्युक्त एकाधिकारी ट्रस्ट अन्य उत्पादकों को क्षेत्र से हटा कर, पदार्थों की कीमत बढ़ा देते हैं, और उन्हें घटिया बनाने लगते हैं। ये क्रमशः अन्य देशों के बाजार को भी हथियाने की तरकीबें सोचते हैं, अनुकूल अवसर पाकर वहाँ अपना माल सस्ता बेच कर वहाँ के कारखानों को बन्द करा देते हैं। एकाधिकार के सम्बन्ध में विशेष विचार आगे एक स्वतंत्र अध्याय में किया जायगा।

बड़ी मात्रा की उत्पत्ति का, जब कि वह श्रमजीवियों या राज्य के नियंत्रण में न होकर, कुछ पूँजीपतियों द्वारा हो, एक परिणाम देश के धन का असमान वितरण होता है। मुट्ठी भर आदमियों का, देश के अधिकांश धन पर अधिकार हो जाता है, वे क्रमशः लखपति और करोड़पति ही नहीं; अरबपति

और खरबपति बन जाते हैं, और बृहत् जन समुदाय के हिस्से में धन की शेष थोड़ी सी मात्रा आती है। इससे असंतोष, क्रान्ति और अनाचार की वृद्धि होती है। पुनः व्यवस्थापक सोचते हैं कि हम अपने तैयार माल का विज्ञापन, या प्रचार आदि के बल पर खपा देंगे; उसके लिये नये नये बाजारों की खोज करके उन पर अधिकार प्राप्त कर लेंगे। यह भावना सभी व्यवसाइयों में होती है, इस लिये एक देश के व्यवसाइयों में परस्पर विरोध होता है, और एक देश के व्यवसाइयों का दूसरे देश के व्यवसाइयों से झगड़ा रहता है। और, क्योंकि प्रायः प्रत्येक देश की राष्ट्रीय सरकार अपने यहाँ के व्यवसाइयों के पक्ष का समर्थन करती है, और उन्हें आवश्यक सुविधाएँ और सहायता देती है, इस लिये विविध देशों की सरकारों का आपस में मनोमालिन्य हो जाता है, जिसके परिणाम-स्वरूप थोड़े बहुत समय में परस्पर विरुद्ध स्वार्थ वाले देशों का युद्ध होता है। भिन्न भिन्न राष्ट्रों के गुट बनने या दलबन्दी होने से दो राष्ट्रों का युद्ध अन्तर्राष्ट्रीय महायुद्ध का रूप धारण कर लेता है। आज कल महायुद्ध की आशंका हर समय बनी रहती है, इसका मूल बहुत कुछ आर्थिक स्वार्थों का संघर्ष, और बड़ी मात्रा की उत्पत्ति है।

मज़दूरों का जीवन—पूँजीवाद पद्धति में बड़ी मात्रा की उत्पत्ति करने वाले श्रमियों की क्या स्थिति होती है, तथा उनके हित के लिये सरकार कहाँ तक क़ानून बनाती है, इसका भी विचार किया जाना आवश्यक है। कल-कारखानों में सहस्रों स्त्री-पुरुष एक जगह काम करते हैं, उन्हें मशीनों और मिलों के पास रहने में ही सुविधा रहती है, कारण, दूर रहने की दशा में उन्हें निर्धारित समय पर, अपने काम पर हाज़िर होना कठिन होता है। जब बहुत से मज़दूर जिनकी आर्थिक दशा भी अच्छी नहीं होती, एक ही स्थान पर रहते हैं, तो उनकी

बस्ती का बहुत घना हो जाना स्वाभाविक है; उसकी आबोहवा अच्छी नहीं रहती। और, खुली हवा का सेवन करने के लिये उन्हें प्रायः अवकाश या सुविधा भी नहीं होती।

मज़दूरों में अपना हिताहित सोचने का यथेष्ट ज्ञान नहीं रहता। फिर, अपने जीवन-निर्वाह की आवश्यकताओं से प्रेरित होकर, या कुछ कमाने की इच्छा से अनेक स्त्रियाँ और बालक भी मिलों और कारखानों आदि में काम करने के इच्छुक रहते हैं। कुछ दशाओं में मिल मालिकों की तरफ से ठेकेदार नियत रहते हैं, जो मिल में काम करने के लिये मज़दूरों को एकत्र करते हैं। निदान, कल कारखानों में काम करने वालों के स्वास्थ्य आदि का एक बड़ा प्रश्न उपस्थित रहता है। मिल मालिकों को अपने स्वार्थ-वश इसकी अवहेलना करने की प्रवृत्ति होती है, और श्रमियों को अपने अज्ञान तथा असमर्थता वश। अब यदि सरकार इस ओर ध्यान न दे तो देश का बड़ा अहित हो—अनेक माताओं, अथवा माता बनने वाली स्त्रियों की अस्वस्थता का परिणाम स्वयं उनके अतिरिक्त, भावी सन्तान पर भी पड़े; अनेक बालकों के शरीर में, उनके विकास काल में ही अस्वस्थता और दुर्बलता आदि का बीजारोपण हो जाय। भावी नागरिकों को ऐसी चिन्तनीय अवस्था से बचाने के लिये सभी सभ्य राज्य थोड़ी बहुत व्यवस्था करते हैं; अन्यान्य प्रकार के क़ानूनों के साथ ही साथ कारखाने के क़ानून बनाये जाते हैं, जो काम करने वालों तथा काम कराने वालों दोनों पर लागू होते हैं।

कारखानों का क़ानून—क़ानून में कारखाना किसे कहा जाता है, यह बात देश काल के अनुसार भिन्न भिन्न होती है। उदाहरणवत् भारतवर्ष में बीस आदमियों से, कुछ दशाओं में दस आदमियों से, काम लेने वाले कारखानों पर, यदि वहाँ भाफ

पानी या दूसरी शक्ति से काम लिया जाय, कारखानों का क़ानून लागू होता है। कारखाना-क़ानून में यह निश्चित किया जाता है कि मज़दूरों के एक दिन में, तथा एक सप्ताह में काम करने के घंटों की अधिक से अधिक संख्या क्या हो, भिन्न भिन्न देशों में प्रतिदिन ८ से १० घंटे तक, और प्रति सप्ताह ४८ से ६० घंटे तक काम करने का नियम है। घंटों की यह संख्या व्यवसायों की भिन्नता के अनुसार भी भिन्न भिन्न है।

स्त्रियों और बालकों के लिये कुछ सुविधाएँ रखी जाती हैं। उनके लिये कुछ जोखम के काम करने का निषेध रहता है। काम करने के लिये बालकों की कम से कम उम्र निर्धारित कर दी जाती है, जिससे बहुत कम उम्र वाले बालकों से मज़-दूरी न करायी जाय। उनके काम करने के घंटे भी अपेक्षाकृत कम रहते हैं, तथा बीच में उन्हें कुछ अवकाश देने की व्यवस्था रहती है।

इसी प्रकार प्रसव काल के पहले, और उसके पश्चात स्त्रियों को कुछ समय की पूरी छुट्टी, तथा पीछे काम के घण्टों में अवकाश का नियम रखा जाता है। इस बात की भी व्यवस्था की जाती है कि पानी, रोशनी, हवा, सफ़ाई आदि का समुचित प्रबन्ध रहे और एक ही जगह बहुत अधिक आदमी इस प्रकार इकट्ठे होकर काम न करें कि उनके स्वास्थ्य की हानि पहुँचे। क़ानून में इस बात का भी उल्लेख रहता है कि मशीन से मज़दूरों की रक्षा होती रहे, किसी को कोई चोट-चपेट न लगे, और यदि चोट-चपेट लगे तो आहत मज़दूर को, तथा उसकी मृत्यु हो जाने की दशा में उसके परिवार को, सहायता दी जाय।

कुछ स्थानों में मिल और कारखानों के मालिक श्रमजीवियों के लिये, क़ानून से बाध्य न होते हुए भी शिक्षा, स्वास्थ्य, चिकित्सा आदि का प्रबन्ध करते हैं; स्कूल, वाचनालय, और औषधालय

खोलते हैं, तथा उनके दिल-बहलाव और खेल कूद का एवं उन्हें मद्यपान आदि से बचाने का भी कुछ प्रबन्ध करते हैं। परन्तु यह सब होने पर भी अधिकतर स्थानों में अधिकांश श्रमजीवियों की दशा संतोषप्रद नहीं है। श्रमजीवी, अपने उद्धार के लिये सुसंगठित संस्थाओं का आयोजन करते हैं। सहकारिता के भावों के प्रचार से उन्हें अच्छा लाभ पहुँचता है। सरकार में उनके प्रतिनिधि यथेष्ट रहने से क़ानून में उनकी सुविधाओं का अच्छा ध्यान रह सकता है तथा उनकी कितनी ही वर्तमान कठिनाइयों का निवारण हो सकता है। अतः इस दशा में विविध देशों में प्रयत्न हो रहा है, और इसमें थोड़ी बहुत सफलता मिल रही है।

किस स्थिति में, किसी व्यवसाय में बड़ी और छोटी मात्रा की उत्पत्ति साथ-साथ हो सकती है?— पहले बताया जा चुका है कि यातायात के साधन यथा रेल जहाज़ आदि का निर्माण तथा खानिज कार्य छोटी मात्रा की उत्पत्ति से नहीं हो सकता; इसी प्रकार भिन्न भिन्न व्यक्तियों की पृथक् रुचि या आवश्यकता का, अथवा ऐसा सामान जिसमें कच्चे माल का खर्च बहुत हो, बड़ी मात्रा में नहीं बनाया जा सकता। तथापि मानवी आवश्यकता का बहुत सा सामान ऐसा है, जिसकी उत्पत्ति बड़ी मात्रा में भी हो सकती है, और छोटी मात्रा में भी। विचारणीय प्रश्न यह है कि ऐसे सामान का व्यवसाय (जो दोनों प्रकार से बन सकता है) छोटी एवं बड़ी मात्रा में साथ-साथ होने के लिये किन किन बातों की आवश्यकता है। उदाहरण के लिये यह प्रश्न उपस्थित है कि भारतवर्ष में खद्दर (हाथ के कते हुए सूत के, हाथ से बुने कपड़े) की, मिल के बने कपड़े से किस अवस्था में बाजार

में सम्यक् प्रतियोगिता हो सकती है—इस समय जो खद्दर का प्रचार है, वह बहुत-कुछ आर्थिक कारणों पर अवलम्बित न होकर लोगों की भावुकता, देश-प्रेम, निर्धनों की सहायता आदि के विचार पर आश्रित है।

किसी व्यवसाय में आर्थिक दृष्टि से बड़ी और छोटी मात्रा साथ-साथ होने के लिये निम्नलिखित बातों की आवश्यकता है। (१) यातायात की यथेष्ट सुविधा, जिससे कच्चे माल मँगाने तथा तैयार माल बेचने के लिये बाहर भेजने में कठिनाई न हो, (२) अल्प मूल्य में बिजली आदि संचालक शक्ति के घर घर पहुँचने की व्यवस्था, जिससे कारीगर अपने स्थान पर ही इसका उपयोग कर सकें, (३) छोटे छोटे परन्तु खूब काम देने वाले यंत्र जिनको आदमी अपने स्थानों पर भली भाँति चला सके। (४) अच्छे प्रबन्ध और निरीक्षण आदि की व्यवस्था। (५) यथेष्ट सहकारिता—जिससे उत्पादकों को कच्चा माल इकट्ठा मोल लेने, समुचित पूँजी संग्रह करने, और विज्ञापन प्रकाशित कराने तथा तैयार माल को बेचने में सुविधा तथा मितव्ययिता हो। इन बातों के होने पर सूत कातने और कपड़ा बुनने आदि के कामों में बड़ी मात्रा एवं छोटी मात्रा का कार्य साथ-साथ होने की सम्भावना है। समष्टि रूप से विचार करने पर दोनों प्रकार की उत्पत्ति की व्यवस्था बना रहना, समाज के लिये आवश्यक है।

सतरहवाँ अध्याय

उद्योग धन्धों का स्थानीयकरण

—: * :—

उद्योग धन्धे के स्थान का विचार—जब कोई व्यवस्थापक किसी उद्योग धन्धे का कार्य आरम्भ करने लगता है, तो उसके सामने एक मुख्य प्रश्न उस उद्योग धन्धे के लिये उपयुक्त स्थान चुनने का रहता है। वह सोचता है कि जलवायु और प्राकृतिक स्थिति की अनुकूलता कहाँ अधिक होगी, श्रम और कच्चा माल कहाँ अच्छा और किफायत से मिलेगा, यातायात की सुविधाएँ कहाँ अधिक होंगी, इत्यादि। इस प्रकार वह विविध स्थानों की उपयोगिता की तुलना करता है। प्रायः भिन्न भिन्न व्यवस्थापकों का, एक ही उद्योग धन्धे के लिये स्थान चुनने में, अपना अपना स्वतंत्र मत तथा भिन्न दृष्टिकोण हो सकता है, कोई व्यवस्थापक एक स्थान को अच्छा समझता है, कोई दूसरे को।

उद्योग धन्धों के स्थानीयकरण के कारण—परन्तु व्यवहार में यह होता है, कि एक एक उद्योग धंधे के कारखाने कुछ खास खास स्थानों पर विशेष रूप से चलने लगते हैं। जैसे श्रम विभाग में कुछ आदमी किसी खास कार्य या उसके किसी भाग को करने वाले हो जाते हैं, इसी प्रकार कुछ स्थान किसी खास व्यवसाय के केन्द्र बन जाते हैं। इसे उद्योग धन्धों के स्थानीयकरण* के अतिरिक्त, भौगोलिक श्रम विभाग* भी कहते

---

* Localisation of Industries.

* Territorial Division of Labour.

हैं, उदाहरण-स्वरूप भारतवर्ष में कलकत्ता ज्यूट के कारखानों का, और अहमदाबाद और बम्बई कपड़े की मिलों के केन्द्र हैं। इसी प्रकार इंगलैंड में लेंकेशायर और मानचेस्टर कपड़े की मिलों के लिये प्रसिद्ध हैं। इन स्थानों में तैयार किये जाने वाले पदार्थ केवल अपने नगर में ही पर्याप्त नहीं होते, वरन् दूर दूर के, सैकड़ों हजारों मील के फासले पर रहने वाले आदमियों की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। किसी उद्योग धन्धे के स्थानीयकरण के कई कारण होते हैं, कभी कभी दो या अधिक कारणों का एक साथ भी प्रभाव पड़ता है। कुछ दशाओं में प्राकृतिक कारण बहुत महत्वपूर्ण होते हैं, तथापि अन्य (आर्थिक, राजनैतिक आदि) कारणों का भी इस सम्बन्ध में बड़ा प्रभाव रहता है।

प्राकृतिक कारण—कुछ दशाओं में उद्योग धन्धों का स्थानीयकरण प्राकृतिक स्थिति वश (उदाहरणवत् जल वायु, भूमि की विशेषता, भूमि में पदार्थ विशेष को उत्पन्न करने के गुण, या उसकी खनिज सम्पत्ति के कारण) होता है। यह स्पष्ट ही है कि जो पदार्थ जहाँ पैदा होता है, या खान से निकलता है, उससे सम्बन्ध रखने वाला, उद्योग धन्धा प्रायः वहाँ ही चलाने में सुविधा होती है, जब तक कि दूसरी जगह कोई अन्य विशेष लाभ न हो। बंगाल में ज्यूट और चावल के कारखाने अधिक होने का कारण, वहाँ इन कारखानों के लिये आवश्यक कच्चे माल की उत्पत्ति ही है। विविध धातुओं के परिशोध सम्बन्धी कुछ खनिज उद्योग धन्धों के लिये कोयले की बहुत आवश्यकता होती है, ऐसे उद्योग धन्धे कुछ दशाओं में कोयले की खान के पास चलाये जाते हैं, जिससे कोयला सुगमता से मिल सके।

प्राचीन काल में जल-शक्ति का बहुत उपयोग होता था; एक एक नहर के किनारे कई कई पनचक्कियाँ हो जाती थीं।

आज कल पनचक्कियाँ भाफ से चलने लगी हैं, पर बिजली की संचालक शक्ति के लिये अब भी जल-शक्ति का महत्व है।

कुछ उद्योग धन्धे ऐसे होते है कि उनके लिये विशेष प्रकार की ही जलवायु चाहिये; (अन्य बातों के समान होने की दशा में) वे वैसी ही जलवायु वाले स्थान में केन्द्रित होंगे। बम्बई और लैंकशायर में रूई की मिलों की अधिकता का एक मुख्य कारण वहाँ की जलवायु की नमी, और समुद्र-तट की समीपता है। जैसा पहले कहा जा चुका है, जलवायु का प्रभाव श्रमियों की कार्य-क्षमता पर भी पड़ता है, इस दृष्टि से भी उसका उद्योग धन्धों के स्थानीयकरण से सम्बन्ध है।

आर्थिक कारण—जिन स्थानों में रेल, जहाज आदि से यातायात की सुविधा होती है, वहाँ अन्य स्थानों की अपेक्षा, स्थानीयकरण की प्रवृत्ति अधिक होती है। बंगाल में कलकत्ता और बम्बई प्रान्त में बम्बई नगर की विशेषता बहुत कुछ इस दृष्टि से भी है। दूर दूर से कच्चा माल मंगाने, तथा तैयार माल को दूर दूर तक भेजने में यातायात सम्बन्धी मितव्ययिता का ध्यान रखना आवश्यक होता है, अतः अन्य बातें समान होने की दशा में जिस स्थान में यातायात की सुविधाएँ अधिक होंगी, और खर्च कम पड़ेगा, वहाँ उद्योग धन्धों का स्थानीयकरण अधिक होगा।

श्रम के यथेष्ट परिमाण में मिलने की सुविधा भी किसी उद्योग धन्धे के स्थानीयकरण में सहायक होती है। जब किसी व्यवस्थापक को यह प्रतीत होता है कि कई स्थान अन्य बातों में समान हैं, तो वह अपना कारखाना स्थापित करने के लिये ऐसा स्थान पसन्द करता है, जहाँ श्रमी यथेष्ट संख्या में, तथा अपेक्षाकृत कम वेतन पर मिल सकते हैं।

पूँजी तो आज कल कल-कारखानों का जीवन-प्राण बनी हुई है; इस सम्बन्ध में पहले लिखा जा चुका है। जहाँ यह काफी मात्रा में तथा कम सूद पर मिल सकेगी वहाँ उद्योग धंधे के स्थानीयकरण की सम्भावना अधिक होगी, इसमें संशय ही क्या है!

राजनैतिक कारण—राजाओं तथा सरकार द्वारा दिये जाने वाले प्रोत्साहन और सहायता से भी उद्योग धन्धे का स्थानीयकरण होता है। भारतवर्ष में हिन्दू और मुसलमान नरेशों की संरक्षकता में कुछ नगरों में विशेष व्यवसाय आरम्भ हुआ, पीछे धीरे धीरे उसकी वृद्धि होकर वह स्थान उस व्यवसाय का केन्द्र ही बन गया। आज कल सरकारें प्रायः तैयार माल की आयात तथा कच्चे माल की निर्यात पर कर लगा कर स्वदेशी उद्योग धंधों को प्रोत्साहन देती हैं तथा उनका संरक्षण करती हैं।

अन्य कारण—किसी किसी उद्योग धन्धे के स्थानीयकरण के उदाहरणों पर विचार करने से विदित होता है, कि उसके एक विशेष स्थान में केन्द्रित हो जाने का पूर्वोक्त कोई विशेष कारण न था। उसे पहले पहिल वहाँ किसी व्यक्ति ने आरम्भ किया, बस, इसी से उसकी वृद्धि, और अन्ततः स्थानीयकरण में बड़ी सहायता मिलती गयी। जब किसी जगह एक बड़ा कारखाना सफलता-पूर्वक चल निकलता है तो उस प्रकार के अन्य कारखानों को वहाँ चलाने में कुछ सुविधाएँ होने लगती हैं, उदाहरणवत् वहाँ श्रमी उस खास कार्य में बहुत कुशल हो जाते हैं, वहाँ बनने वाले माल के सम्बन्ध में उस स्थान की विशेष ख्याति हो जाती है, तथा दूर दूर रहने वाले आदमी भी उस माल को अन्य स्थानों से न मंगा कर वहाँ से ही मंगाते हैं। उस माल

के कच्चे पदार्थ के बेचने वाले वहाँ उसे काफी मात्रा में भेजते हैं, कारण उनको वहाँ उसकी बिक्री की आशा रहती है। पुनः आस पास के जिस किसी श्रमी में उस विषय सम्बन्धी कुशलता होती है, वह अपने वास्ते काम की खोज करने वहाँ ही जाता है। इस प्रकार वहाँ उस व्यवसाय के वास्ते उपयुक्त श्रमी, कच्चा माल, तथा ग्राहक आदि सभी दृष्टि से अनुकूल वातावरण तैयार हो जाता है। फिर, बहुत से आदमी अनुकरण-प्रिय होते हैं। उन्हें जब उसी उद्योग धन्धे सम्बन्धी कारखाना स्थापित करना होता है, तो उनकी नजर उसी स्थान की ओर जाती है, और पूर्वोक्त अनुकूलताओं का विचार करके वे नया कारखाना उसी जगह स्थापित करने का निश्चय करते हैं। इस प्रकार क्रमशः वह जगह उस उद्योग धन्धे का केन्द्र बन जाती है, उस उद्योग धन्धे का वहाँ स्थानीयकरण हो जाता है।

विरोधक प्रवृत्ति—उद्योग धन्धों के स्थानीयकरण के उपर्युक्त कारणों का विचार करने से पाठकों को यह भ्रम न हो जाना चाहिये कि स्थानीयकरण में कोई बाधा ही नहीं है। गत वर्षों में ऐसी शक्तियों का उदय हुआ है जो उद्योग धन्धों के स्थानीयकरण या केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति को रोकती हैं, और उसके साथ ही उनके विकेन्द्रीयकरण में, अर्थात् उनके भिन्न भिन्न स्थानों में स्थापित किये जाने में, सहायक होती हैं। इन शक्तियों में मुख्य तीन हैं:—बिजली की संचालक शक्ति, यातायात के साधनों की उन्नति, और नगरों में भूमि के मूल्य या भाड़े की वृद्धि।

बिजली की संचालक शक्ति का आविष्कार हो जाने पर अब यह आवश्यक नहीं रहा है कि किसी उद्योग धन्धे को कोयले की खान के पास स्थापित किया जाय। चाहे वह स्थान स्वास्थ्य-नाशक ही क्यों न हो। अब बिजली की शक्ति दूर दूर तक जा

सकती है। इससे उद्योग धन्धों को दूर दूर के स्वास्थ्य-प्रद खुले स्थानों में स्थापित करने की सुविधा हो गयी है।

यातायात के साधनों की उन्नति से स्थानीयकरण में सहायता मिलती है, इसका उल्लेख पहले किया गया है। परन्तु, चाहे यह बात विचित्र विदित हो, पर है सत्य, कि उक्त उन्नति से इसका उलटा परिणाम भी होता है। अब यातायात का खर्च तथा उसमें लगने वाला समय कम हो गया है, इसलिये अब कारखानों को कच्चे माल के उत्पत्ति-स्थान, मंडी, या बन्दरगाह से दूर स्थापित करने की असुविधा तथा हानि घट गयी है। उद्योग धंधे को एक ही स्थान पर केन्द्रित की जाने की उतनी ज़रूरत नहीं रही।

आज कल नगरों में भूमि का मूल्य या भाड़ा बहुत अधिक हो गया है, और यह बढ़ता ही जाता है। इससे नगरों में प्रथम तो किसी उद्योग धन्धे का स्थापित करना ही कठिन होता है, और स्थापित भी हो जाय तो उसकी वृद्धि या विस्तार के लिये यथेष्ट गुंजायश नहीं रहती। अब तक ग्राम्य क्षेत्र में कारखाने स्थापित करने में बड़ी बाधा संचालक शक्ति और यातायात सम्बन्धी थी; वह अब दूर होती जा रही है, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। इसलिये अब उद्योग धन्धे ग्राम्य क्षेत्रों में स्थापित करने में प्रोत्साहन मिल रहा है, वहाँ उनके लिये कम खर्च से काफी स्थान प्राप्त हो सकता है।

उद्योग धन्धों के विकेन्द्रीयकरण में एक प्रधान बाधा उपयुक्त श्रम प्राप्त करने की है। आधुनिक काल में जब कि बेकारी इतनी बढ़ी हुई है, ग्राम्य क्षेत्रों में साधारण श्रमियों की संख्या तो बहुत है, परन्तु खास खास उद्योग धन्धों के लिये विशेष योग्यता-प्राप्त श्रमी जैसे नगरों में मिलते हैं, वैसे ग्रामों में नहीं मिलते। यह एक मुख्य कारण है कि बहुत से उद्योग धन्धों का काम नगरों में या कस्बों में ही होता है, ग्रामों में नहीं।

उद्योग धन्धे के स्थानीयकरण से लाभ—किसी उद्योग धन्धे के बहुत से कारखाने एक ही स्थान पर स्थापित होने से वहाँ के अनेक श्रमी उसी काम में लगे रहते हैं, फलस्वरूप वहाँ की जनता के एक खासे भाग को उसके विषय में जानकारी हो जाती है, विशेषतः श्रमियों की सन्तान को उस विषय का शिक्षण प्राप्त करना बहुत सुगम हो जाता है। अन्य श्रमी भी वहाँ अधिकतर ऐसे हो आते हैं, जिन्हें उस विशेष व्यवसाय का अच्छा ज्ञान होता है। इस प्रकार वह जगह उस विशेष प्रकार के श्रमियों का केन्द्र बन जाती है। इससे श्रमियों के अतिरिक्त, उस उद्योग धंधे का नया कारखाना खोलने वालों को भी सुविधा होती है, इस सम्बन्ध में पहले लिखा जा चुका है।

जब किसी उद्योग धन्धे के कई कारखाने एक ही स्थान पर होते हैं, तो एक कारखाने के मालिक, प्रबन्धक, और ऐंजिनियर आदि को दूसरे कारखाने वालों से मिलने और विचार-विनिमय करने का खूब अवसर मिलता है। वे यंत्रों तथा कार्य-पद्धति आदि के सम्बन्ध में सोच विचार करते हैं। इससे एक कारखाने में जो प्रयोग या उन्नति होती है, उसकी वहाँ के दूसरे कारखाने वालों को भी जानकारी हो जाती है। इस प्रकार सब कारखाने वालों को उससे लाभ होता है।

जब कोई उद्योग धन्धा किसी विशेष क्षेत्र में केन्द्रित हो जाता है, तो उसके लिये वह स्थान दूर दूर तक प्रसिद्ध हो जाता है, और वहाँ उसके वास्ते आवश्यक कच्चा माल आने, तथा उसका तैयार माल दूर दूर के बाजारों में जाने का मार्ग प्रशस्त हो जाता है; इसके सम्बन्ध में पहले लिखा जा चुका है।

एक उद्योग-धन्धे के स्थानीयकरण से उसके अवशिष्ट पदार्थों के व्यर्थ जाने की बात नहीं रहती। जब कारखाने पृथक् पृथक्

क्षेत्रों में होते हैं तो उनमें से प्रत्येक का अवशिष्ट पदार्थ कम मात्रा में होने से, उनका यथेष्ट उपयोग नहीं किया जाता, ऐसा करने में विशेष लाभ भी नहीं होता। किन्तु कई कारखाने एक ही स्थान में होने की दशा में, उनका अवशिष्ट पदार्थ काफ़ी मात्रा में इकट्ठा हो जाता है, उसका उपयोग करने के लिये अर्थात् उससे अन्य उपयोगी पदार्थ बनाने के लिये अच्छे बढ़िया यंत्र मंगाने और बड़ा कारखाना स्थापित करने का विचार किया जा सकता है, इसमें काफी लाभ की भी आशा रहती है। इस प्रकार उद्योग धन्धे के स्थानीयकरण से कुछ गौण उपयोगी पदार्थों की उत्पत्ति होने लगती है। इन गौण पदार्थों के कारखानों से यातायात, महाजनी, बैंकिंग कार्य आदि की जो वृद्धि होती है, उसका लाभ मुख्य उद्योग धन्धे को भी मिलता है।

कुछ उद्योग-धन्धों के स्थानीयकरण से दूसरे पूरक उद्योग धन्धे की स्थापना में सहायता मिलती है। उदाहरणवत् लोहे के कारखानों में हृष्ट-पुष्ट श्रमियों की आवश्यकता होती है। उन कारखाने वालों को उन्हें अपेक्षाकृत अधिक वेतन देना होता है पर उक्त श्रमियों की स्त्रियों तथा बालकों को वहाँ काम न मिलने से उन्हें परिवार की दृष्टि से वह वेतन कम ही मालूम होता है। इसलिये जब तक उन्हें काफी वेतन की प्राप्ति न हो, वे वहाँ काम करने को तैयार नहीं होते। अब यदि लोहे के कारखाने के पास कपड़े की मिलें स्थापित हो जायँ तो उक्त श्रमियों की बेकार स्त्रियों और बालकों को उसमें उपयुक्त काम मिल सकता है। जब इन्हें वेतन-प्राप्ति होने लगती है तो उक्त श्रमी लोहे के कारखाने में अपेक्षाकृत कुछ कम वेतन पर भी काम करने लगते हैं। इस विचार से कई स्थानों में लोहे के कारखानों के पास कपड़े के कारखाने स्थापित किये गये हैं,

और किये जाते हैं। इस प्रकार मुख्य और पूरक उद्योग धन्धे दोनों एक दूसरे की सहायता करते हैं।

स्थानीयकरण मे हानियाँ और उनसे बचने के उपाय—यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि जब किसी उद्योग धन्धे में एक विशेष प्रकार के ही श्रमियों की, उदाहरणवत् केवल मनुष्यों की आवश्यकता हो, तो उससे बड़ी असुविधा और हानि होती है। उसका उपाय यही है कि वहाँ कोई पूरक व्यवसाय भी स्थापित किया जाय, जिसमें अन्य प्रकार के श्रमियों की, जैसे उपर्युक्त उदाहरण में स्त्रियों और लड़कों की, आवश्यकता हो।

स्थानीयकरण की दूसरी हानि यह है कि जब किसी ऐसे क्षेत्र में जो विशेषतया एक ही उद्योग धन्धे के आश्रित हो, वहाँ तैयार होने वाले विशेष माल की माँग किसी कारण से कम हो जाय, या उसके लिये आवश्यक कच्चा माल मिलने में कठिनाई हो जाय, तो उस समस्त क्षेत्र में आर्थिक संकट उपस्थित हो जाता है—श्रमियों का वेतन कम हो जाता है, उनमें बेकारी बढ़ जाती है, व्यापार मंदा हो जाता है। इससे बचने का उपाय यही है कि उपर्युक्त क्षेत्र में दूसरे भी उद्योग धन्धे हों; यदि एक उद्योग धन्धे को किसी कारण धक्का लगे तो दूसरे उद्योग धन्धों द्वारा आर्थिक संकट कम होने में सहायता मिले।

निष्कर्ष—सभी उद्योग धंधे ऐसे नहीं हैं कि उनका स्थानीयकरण हो सके। वही उद्योग धन्धा केन्द्रित हो सकता है, जिसकी वस्तु की माँग स्थिर हो, तथा काफी परिमाण में हो, जिसका बाजार विस्तृत हो, जो दूर दूर तक सुगमता-पूर्वक लेजा कर बेची जा सके। इससे स्पष्ट है कि जो वस्तुएँ जल्दी खराब होने वाली हैं, जो अपने परिमाण की दृष्टि से बहुत भारी होने के कारण

दूर दूर तक ले जाये जाने में बहुत व्यय-साध्य होती हैं. जिनका बाजार, (माँग कम या अस्थिर होने के कारण) परिमित होता है, उनके उद्योग धन्धे का स्थानीयकरण बहुत अधिक नहीं होता पुनः किसी स्थान में एक ही उद्योग धन्धा न रहना चाहिये. उसमें या उसके निकट ऐसे अन्य उद्योग धन्धों की स्थापना होनी चाहिये, जिनमें गौण पदार्थ तैयार किये जायँ या जो मुख्य धन्धे के लिये श्रमियों की दृष्टि से पूरक उद्योग धन्धे का काम दें, अर्थात् जिनमें स्त्रियाँ और लड़के काम करें। इससे श्रमियों को साधारण समय में कार्य-विविधता, और मंदी के समय में कुछ आर्थिक सहायता प्राप्त होगी। यह बात श्रमियों के अतिरिक्त कारखाने वालों के लिये भी उपयोगी है।

अठारहवाँ अध्याय

व्यवस्था के भेद

—:*:—

पहले कहा जा चुका है कि आधुनिक, बड़ी मात्रा के उत्पादन कार्य में व्यवस्था (अर्थात् प्रबन्ध और साहस) का बहुत महत्व है। अब इस अध्याय में इस बात का विचार किया जाता है कि व्यवस्था के मुख्य भेद कितने हैं, और उनमें से प्रत्येक भेद की क्या विशेषताएँ अथवा लाभ हानि हैं।

एकाकी उत्पादक प्रणाली—प्राचीन काल में प्रत्येक उत्पादन-कार्य का व्यवस्थापक प्रायः एक ही व्यक्ति होता था। उसकी अपनी भूमि होती थी, और वह अपनी पूँजी और श्रम से कार्य करता था, अथवा आवश्यकता होने पर वह दूसरों से पूँजी उधार ले लेता और कुछ दूसरे श्रमियों को मजदूरी

पर रख लेता था। आवश्यक कच्चा माल खरीदने आदि का काम वह स्वयं ही करता था। उत्पादन कार्य की देख-रेख या प्रबन्ध के लिये किसी दूसरे व्यक्ति को आवश्यकता न होती थी। वह अपने कार्य का स्वयं ही व्यवस्थापक था। जो धन उत्पन्न होता, उस पर उसी का स्वामित्व होता, उसको बेचने का कार्य उसे ही करना होता था। जितना लाभ होता, वह सब उसी का होता; यदि दैवयोग से अतिवृष्टि, अनावृष्टि, फसल में कीड़ा लगने या अन्य किसी कारण से खेती में नुकसान होता तो वह भी उसको सहन करना पड़ता था।

इस पद्धति में लाभ यह था कि उत्पादक स्वयं अपना काम करता था, इस अपनेपन के भाव के कारण वह खूब जी लगा कर कार्य करता था। फिर, वह जो धन उत्पन्न करता अथवा वस्तु बनाता, वह निकटवर्ती उपभोक्ताओं के लिये ही होती थी, जिनकी आवश्यकताएँ वह भली भाँति जानता था, और जिनकी माँग का अनुमान वह सहज ही कर सकता था।

इस पद्धति के प्रयोग की सीमाएँ तथा हानियाँ स्पष्ट हैं। ज्यों ज्यों यातायात के साधनों की वृद्धि, और बाज़ार का विस्तार होता है, अधिकाधिक उपभोक्ताओं के लिये धन उत्पन्न करने की आवश्यकता होती है। इसके वास्ते पूँजी बहुत चाहिये, और साधारणतया एक व्यक्ति के पास पूँजी की मात्रा परिमित ही होती है, और उसे उधार भी कम ही मिल सकती है। फिर, बड़े काम में यदि हानि भी अधिक हो जाय तो उसे सहन करना प्रायः अकेले आदमी के बस की बात नहीं होती। और, अकेले आदमी में ऐसी योग्यता तथा कुशलता दुर्लभ होती है कि वह किसी बड़े और पेचीदा व्यवसाय के सब विभागों का निरीक्षण तथा संचालन अच्छी तरह कर सके। इन कारणों से यह पद्धति अधिकतर छोटी मात्रा की उत्पत्ति के कार्यों—खेती और फुटकर

बिक्री आदि—में ही विशेष उपयोगी होती है। एकाकी उत्पादक का व्यापार व्यवसाय प्रायः उसकी सन्तान को ही मिलता है।

साझेदारी—पूर्वोक्त व्यवस्था की हानियों से बचने के लिये साझेदारी प्रथा का आविष्कार हुआ। साझे के उद्योग धंधे, व्यवसाय या व्यापार का प्रबन्ध और नियंत्रण दो या अधिक साझेदार करते हैं। प्रत्येक साझेदार उसका व्यक्तिगत तथा सामुहिक रूप से उत्तरदायी होता है। साझेदारी के व्यवसाय में प्रत्येक साझेदारका उत्तरदायित्व प्रायः अपरिमित रहता है, यदि उस कार्य में दूसरों से उधार लेकर रुपया लगाया गया है, तो ऋणदाता कानूनी तौर से अपनी तमाम रकम एक ही साझेदार से भी प्राप्त करने का अधिकारी होता है।

साझेदारी को व्यवस्था ऐसे व्यवसायों के लिये बहुत उपयुक्त होती है, जिनमें विविध प्रकार की योग्यताओं की आवश्यकता हो, अर्थात् जिनके प्रबन्ध सम्बन्धी कार्य का विभाजन हो सकता हो। उदाहरणवत् कारखाने में एक आदमी कच्चा माल खरीदने में रहे, दूसरा कारखाने का प्रबन्ध करे, तीसरा तैयार माल बेचने का काम करे, ये कार्य भिन्न भिन्न साझेदारों की विशेष योग्यतानुसार बाँट लिये जाते हैं। साझेदारी की व्यवस्था से उन व्यवसायों को चलाने में सुविधा होती है, जिनके लिये आवश्यक पूँजी एक आदमी न लगा सके; उसे इस कार्य के वास्ते दूसरे साझेदार की आवश्यकता हो। कभी कभी तो ऐसा होता है कि एक आदमी में केवल व्यवसायिक बुद्धि होती है, पर पूँजी के अभाव से वह कोई कार्य आरम्भ नहीं कर सकता। फलतः वह किसी ऐसे आदमी को साझेदार बना लेता है, जिसके पास पूँजी हो। इस प्रकार दोनों के साझे से कार्य आरम्भ हो जाता है। एकाकी उत्पादक प्रणाली में, व्यवस्थापक के बाद उसका व्यवसाय उसके पुत्रों अथवा निकट सम्बन्धियों के

सुपुर्द हो जाता है, चाहे वे उसके संभालने योग्य न भी हों। इससे बहुधा सब व्यवसाय शीघ्र ही चौपट होने की नौबत आ जाती है। साझेदारी में ऐसा प्रसंग नहीं आता। साझेदारी की प्रथा बहुत प्राचीन है, इस समय भिन्न भिन्न पेशों में इसका बड़ा भाग है।

साझेदारी की प्रथा के जो लाभ ऊपर बताये गये हैं, ये यथेष्ट महत्व के हैं, किन्तु ये उसी दशा में होते हैं जब कि सब साझेदार मिल कर अच्छी तरह कार्य सम्पादन करें। यदि साझेदारों में घोर मत-भेद रहे, वे मिल कर कार्य न करें, तो व्यवसाय के बिगड़ने में कोई शंका नहीं रहती। साझेदारी में एक मुख्य हानि यह है कि इसमें प्रत्येक साझेदार का अपरिमित उत्तरदायित्व रहता है, किसी एक व्यक्ति की त्रुटि से दूसरे साझेदार को अपनी जायदाद से हाथ धोना पड़ सकता है। बहुत से आदमी ऐसे होते हैं, जो व्यवसाय में थोड़ी सी पूँजी तो लगा देना चाहते हैं; पर वे उसके प्रबन्ध आदि में कुछ भाग नहीं ले सकते, और न उसके लाभ हानि की जोखम ही उठाना चाहते हैं। साझेदारी की प्रथा उनके लिये उपयोगी नहीं होती। साझेदारी में यही पर्याप्त नहीं है कि दो या अधिक व्यक्ति मिल कर काम करने में सहमत हो जायँ। उनके पास व्यवसाय के लिये यथेष्ठ पूँजी भी चाहिये, इसके अभाव में कोई काम नहीं चल सकता। इस लिये एक अन्य प्रकार की व्यवस्था का चलन हुआ, उसका नाम है, मिश्रित पूँजी की कम्पनियाँ।

मिश्रित पूँजी की कम्पनियाँ—आज कल बहुधा जब किसी उत्पादन कार्य के लिये बहुत पूँजी की आवश्यकता होती है, तो उसके सौ सौ या पाँच पाँच सौ या कम ज्यादह रुपये के, बराबर बराबर रकम के हिस्से ('शेयर') निर्धारित कर

दिये जाते हैं, प्रत्येक हिस्सेदार एक या अधिक हिस्सा खरीद लेता है। उक्त कम्पनी मिश्रित पूँजी की कम्पनी* कहलाती है। हिस्सेदार प्रति वर्ष एक संचालक समिति† के सदस्यों का निर्वाचन करते हैं—इस समिति को व्यवसाय के प्रबन्ध आदि का सब अधिकार रहता है। यह समिति अपने सदस्यों में एक को प्रधान संचालक‡ नियत करती है, जो अपना सब समय इस व्यवसाय के लिये लगाता है, और आवश्यकतानुसार संचालकों की सभा आदि की व्यवस्था करता है।

इन कम्पनियों की स्थापना पहले इंगलैंड आदि योरोपीय देशों में हुई, पश्चात् जब भारतवर्ष में बड़ी मात्रा में उत्पत्ति का उत्पादन होने लगा तो यहाँ भी इनकी क्रमशः वृद्धि होने लगी; इन कम्पनियों की वृद्धि का एक मुख्य कारण इनमें प्रायः परिमित देनदारी के सिद्धान्त का व्यवहार है, जिससे हिस्सेदारों की जोखम, हिस्से में लिखी हुई रकम तक ही सीमित रहती है। उदाहरणवत्, एक हिस्सेदार ने कम्पनी का सौ रुपये का हिस्सा लिया, और उसने पच्चीस पच्चीस रुपये की तीन किश्तों में पिछत्तर रुपये चुका दिये। अब उसे केवल पच्चीस रुपये देने शेष है। इस बीच में कम्पनी का दिवाला निकल गया, और उसे अपने ऋण-दाताओं का पाँच हजार रुपया देना है, तो ये ऋणदाता उक्त हिस्सेदार पर पाँच हज़ार का दावा नहीं कर सकते, वे उससे केवल पच्चीस रुपये ही लेने के अधिकारी हैं। इसके विपरीत, यदि कम्पनी अपरिमित देनदारी की हो, और अगर उसके हिस्सेदारों में से अन्य व्यक्तियों की स्थिति

---

* Joint Stock Company.

† Board of Directors.

‡ Managing Director.

अच्छी न हो, केवल उक्त एक हिस्सेदार ही ऐसा हो जिससे ऋणदाताओं को अपना रुपया वसूल होने की आशा हो तो ऋणदाता उक्त एक हिस्सेदार पर ही पांच हजार का दावा कर सकते हैं, चाहे इस हिस्सेदार को अपने हिस्से के केवल पच्चीस रुपये ही कम्पनी के देने रहे हों।

कम्पनियों से लाभ—इन कम्पनियों से अनेक लाभ हैं। परिमित देनदारी रहने से हिस्सेदार की जोखम घट जाती है। बहुत से आदमी हिस्सेदार बनने को प्रेरित होते हैं, इस प्रकार वे कुछ दशाओं में अपने उस धन को भी उत्पादन कार्य में लगाते हैं, जिससे सम्भवतः कुछ उत्पत्ति न होती, वह यों ही पड़ा रहता। यदि हिस्सेदार को उस रुपये की ज़रूरत हो, जो उसने कम्पनी में लगाया है तो वह अपने हिस्से को बाजार में बेच सकता है; यदि उसे मालूम हो कि कम्पनी का कारोबार अच्छी तरह नहीं चल रहा है, उसमें हानि होने की आशंका है, अथवा किसी दूसरे कारोबार में रुपया लगाना अपेक्षाकृत अधिक लाभदायक होगा तो भी वह अपने हिस्से को बेच सकता है। कम्पनियों के हिस्से बेचने का काम दलाल किया करते हैं, और इन हिस्सों की बाजार-दर समय समय पर घटती बढ़ती रहती है, जितना किसी कम्पनी का काम अधिक लाभ-प्रद होता है, उतना हो उसकी दर चढ़ जाती है, यहाँ तक कि कभी कभी सौ रुपये के हिस्से की कीमत चार सौ पाँच सौ रुपये तक हो जाती है। अस्तु, इस विषय में, विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं। वक्तव्य केवल यह है कि कम्पनी-पद्धति में, हिस्सेदारों को उससे पृथक् होने अथवा सम्बन्ध विच्छेद करने की स्वतंत्रता है, इसी प्रकार नये आदमियों को समय समय पर कम्पनी के हिस्से खरीद कर उसका हिस्सेदार बनने का अधिकार रहता है। यह बात साझेदारी पद्धति अथवा एकाकी उत्पादक पद्धति में नहीं होती।

अनेक दशाओं में एकाकी उत्पादक का कार्य उसके जीवन तक ही चलता है, और उसकी मृत्यु के साथ, उसके कारोबार का भी अन्त हो जाता है। साझेदारी पद्धति का व्यवसाय भी बहुधा अल्पायु होता है, साझेदारों में किसी बात पर मतभेद सहज ही इस सीमा तक बढ़ सकता है, जिससे साझेदारी टूट जाय। परन्तु मिश्रित पूँजी की कम्पनियाँ, प्रबन्ध ठीक रहने की दशा में, चिरकाल तक बनी रहती हैं। इन्हें सुयोग्य और विशेषज्ञ संचालकों के बहुमूल्य परामर्श का लाभ मिलता है, जो साझेदारी प्रथा में सम्भव नहीं होता। अगर संचालन उचित रीति से न हो तो हिस्सेदार वार्षिक चुनाव के अवसर पर पुराने संचालकों और प्रधान संचालक को बदल कर उनकी जगह नवीन कार्यकर्त्ता नियुक्त कर सकते हैं। कम्पनियों द्वारा चलने वाले व्यवसायों में मैनेजर आदि के रूप में उन आदमियों की शक्ति और योग्यता का उपयोग हो सकता है, जिनके पास पूँजी नहीं होती, पर व्यवसाय-बुद्धि तथा अन्य प्रकार की कुशलता यथेष्ट होती है। कम्पनी-पद्धति न होने की दशा में ऐसी योग्यता की माँग नहीं होती, और फल-स्वरूप लोगों में इसे प्राप्त करने की प्रेरणा भी नहीं होती।

कम्पनी-पद्धति में बहुत से आदमियों के, थोड़ी थोड़ी पूँजी के लगा देने से एक बड़ी रकम इकट्ठी हो जाती है, और उससे ऐसा कारोबार चलता है, जो अकेले आदमी से नहीं चलाया जा सकता। चीजें सस्ती बनती हैं, तथा सस्ते भाव से बेची जाती हैं, और उनका उपयोग बढ़ जाता है। रेल, जहाज, बड़ी बड़ी नहरें, और बड़े बड़े पुलों को बनाने का काम ऐसी कम्पनियों द्वारा ही होता है।

कम्पनियों से हानि—कम्पनियों से कोरे लाभ ही लाभ हों, सो बात नहीं; इनसे हानियाँ भी हैं। परिमित देनदारी के

कारण कभी कभी हिस्सेदारों में असावधानी हो जाती है; और संचालक अनाप-शनाप खर्च के कार्य कर डालते हैं। पुनः कम्पनियों का काम हिस्सेदारों, संचालकों और प्रबन्धकों में बटा होने से, कोई व्यक्ति विशेष रूप से अपने उत्तरदायित्व का अनुभव नहीं करता, इससे कारोबार को धक्का पहुँचता है,।

मिश्रित पूँजी कम्पनी-पद्धति में श्रमियों और पूँजीपति (हिस्सेदारों) में बहुत अन्तर हो जाता है। उनका कुछ पारस्परिक सम्पर्क नहीं रहता। हिस्सेदारों को श्रमियों के सुख दुख का कुछ परिचय नहीं होता, बहुधा वे कम्पनी के कारखानों के स्थान से काफी दूरी पर रहने वाले होते हैं। इस प्रकार स्वामी और नौकर की पूर्व कालीन घनिष्ठता का लोप होकर पूँजी और श्रम के संघर्ष की वृद्धि होती है। अमरीका आदि कुछ देशों में तो बड़ी बड़ी कम्पनियाँ राज्य-कर्मचारियों और प्रभावशाली व्यक्तियों को अनैतिक उपायों द्वारा अपने पक्ष में करके, मन-चाहे क़ानून बनवाने में भी सफल हो जाती हैं।

कहीं कहीं कम्पनियाँ यथेष्ट शक्तिशाली बन कर अपने प्रतिद्वन्द्वियों को परास्त करके व्यवसाय क्षेत्र से हटा देती हैं, फिर पदार्थों को घटिया बना कर, या मंहगे बेच कर खूब मुनाफा लेने की चिन्ता में लीन रहने लगती हैं। इससे सर्व साधारण उपभोक्ताओं को बहुत नुकसान पहुँचता है।

एकाकी उत्पादकों, तथा साझेदारों का जो आचार विचार तथा नैतिक आदर्श होता है, वह कम्पनियों में नहीं रहता। हिस्सेदार प्रायः अनुभव-शून्य होते हैं, और संचालकों तथा प्रबन्धकों को मनमानी करने का अवसर मिलता है। ये संचालक आदि अपने मित्रों तथा रिश्तेदारों को बड़े बड़े वेतन पर नियुक्त कर देते हैं, अपने मिलने वालों से कच्चा माल मंहगे दामों से लाकर कम्पनी के हिसाब में लिखा देते हैं। वे बनावटी हिसाब

के द्वारा मुनाफा अधिक दिखा देते हैं, और इस प्रकार हिस्सों की कीमत बढ़ जाने पर अपने हिस्से बेच कर लाभ उठाते हैं, और पीछे कम्पनी से पृथक् हो जाते हैं। इससे हिस्सेदारों को बहुत हानि पहुँचती है। समय समय पर अनेक कम्पनियों के 'फेल' होने के समाचार मिलते हैं, इसका एक मुख्य कारण स्वयं संचालकों की बेईमानी तथा छल-कपट है। उनके अ-नैतिक व्यवहार से सर्व साधारण को बहुत धोखा होता है, समाज को भयंकर आर्थिक क्षति सहन करनी पड़ती है।

कम्पनियों का नियंत्रण इसे रोकने के लिये, राज्य के क़ानून द्वारा यथा-सम्भव प्रयत्न किया जाता है। हर एक कम्पनी की रजिस्टरी कराने का नियम रहता है। जब संस्थापक यह निश्चय कर लेते हैं कि इतनी पूँजी से अमुक कार्य चलाया जाय, तथा इसे बराबर बराबर रकमों के इतने हिस्सों में विभक्त किया जाय, और अमुक व्यक्ति कम्पनी के संचालक हों, तब कम्पनी की रजिस्टरी की जाती है। रजिस्टरी होने से पूर्व कम्पनी का विवरण पत्र या 'प्रासपेक्टस' प्रकाशित नहीं किया जा सकता। जब निर्धारित परिमाण में हिस्से बिक चुकते हैं, तब कम्पनी का कारोबार आरम्भ किया जाता है। कम्पनी को अपने वार्षिक हिसाब की 'आडीटर' अर्थात लेखा-परीक्षक से नियमानुसार जाँच करानी होती है, जो इस बात को भी देखता है कि कम्पनी के पास वास्तव में इतना रुपया है या नहीं, जितना हिसाब में दिखाया गया है, तथा संचालकों ने तो कोई ऋण नहीं ले रखा है। आडीटर की जाँच के बाद कम्पनी का हिसाब सर्व साधारण के लिये प्रकाशित किया जाता है, जिससे सब उसकी आर्थिक स्थिति को भली प्रकार जान सकें।

इतना होने पर भी कुछ संचालक जनता को धोखा दे ही देते हैं। वे क़ानून से बचने या उनका उल्लंघन करने के लिये, नये नये उपाय निकाल लेते हैं। उदाहरणवत् हिसाब में यह दिखाने के लिये कि संचालकों के नाम कोई ऋण नहीं है, वे ऋण लेकर उसे अपने मित्रों या सम्बन्धियों आदि के नाम लिख देते हैं। पुनः जब वे देखते हैं कि कम्पनी को मुनाफा अधिक होने से दूसरी कम्पनियों द्वारा उसकी प्रतियोगिता होने और, इस प्रकार उसका लाभ घटने की सम्भावना है तो वे कभी कभी कृतिम रूप से हिस्सेदारों के हिस्से बढ़ा देते हैं, जिससे प्रतिशत मुनाफा कम मालूम पड़े। तथापि सरकारी कानून द्वारा, चालाक और बेईमान संचालकों के व्यवहार से जनता की, बहुत-कुछ रक्षा हो सकती है। सर्व साधारण तथा हिस्सेदारों को भी चाहिये कि सतर्क रहें, केवल संचालकों के नाम देख कर ही उनके हाथ में सब कारोबार सौंप कर निश्चिन्त न हो जायँ।

कम्पनियों सम्बन्धी निष्कर्ष—कम्पनियों से धनोत्पत्ति में बहुत सहायता मिलती है, इससे हिस्सेदारों के अतिरिक्त समाज का भी हित-साधन होता है। हाँ, जैसा कि ऊपर कहा गया है, उनसे कई हानियाँ भी है, जिनसे बचने की आवश्यकता है। साधारणतया यह कहा जा सकता है कि मिश्रित पूँजी कम्पनी पद्धति, एकाकी उत्पादक पद्धति तथा साझेदारी पद्धति की अपेक्षा, निम्नलिखित प्रकार के व्यवसायों के लिये अधिक उपयोगी है :—(१) रेल, जहाज, नहर, बड़े पुल आदि बड़ी उत्पत्ति के उन कार्यों के लिये, जिनमें बहुत बड़ी पूँजी चाहिये, (२) उन व्यवसायों के संचालन के लिये जिनमें बहुत जोखम उठानी पड़ती है, और विविध प्रयोगों की परीक्षा या अन्वेषण आदि में बहुत व्यय करना होता है, जिन कामों में साधारण पूँजी की आवश्यकता हो, और जिनमें परिस्थितियाँ जल्दी जल्दी बदलती

हों और शीघ्र निर्णय करने की आवश्यकता हो, साझेदारी अधिक उपयुक्त होती है।

किसी कम्पनी का क्षेत्र बहुत बढ़ जाने पर, अथवा उसके साथ एक या अधिक कम्पनियों के मिल जाने पर उसकी, उत्पादन में एकाधिकार प्राप्त करने की प्रवृत्ति होती है। एकाधिकार किस-किस प्रकार का होता है, तथा उसका उत्पत्ति पर क्या प्रभाव पड़ता है, इस विषय में अगले अध्याय में स्वतंत्र रूप से विचार किया जायगा।

सहकारिता—मिश्रित पूँजी की कम्पनियों तथा एकाकी उत्पादक द्वारा बड़ी मात्रा की उत्पत्ति होने की दशा में श्रमियों पर कभी कभी बहुत सख्ती होती है, उनका वेतन घटाया जाता है, और उनकी विविध शिकायतों पर उचित ध्यान नहीं दिया जाता। इसके अतिरिक्त छोटे छोटे उत्पादकों से अनुचित प्रतियोगिता की जाती है, उपभोक्ताओं से कीमत बहुत ली जाती है, और ऋण लेने वालों से भारी सूद लिया जाता है। उपर्युक्त विविध वर्गों के मनुष्यों ने अपनी रक्षा का उपाय यह सोचा है कि मिल कर काम करें, और सहकारिता* द्वारा शक्तिशाली बनें, जिससे कोई उन पर अत्याचार या ज्यादती न कर सके। सहकारिता द्वारा किये जाने वाले भिन्न भिन्न कार्यों की दृष्टि से उसके कई भेद हो सकते हैं। अर्थशास्त्र में उसके मुख्य तीन भेद हैं :—

(१) उत्पादकों की सहकारिता (या सहकारी उत्पादकता)

(२) उपभोक्ताओं की सहकारिता या सहकारी क्रय। इसे वितरण-मूलक सहकारिता भी कहा जाता है।

---

* Co-operation.

(३) सहकारी साख, अर्थात् सहकारी महाजनी, जिसके अन्तर्गत उधार लेना और उधार देना, दोनों कार्यों का समावेश होता है।

प्रस्तुत पुस्तक उत्पत्ति सम्बन्धी होने के कारण हमें केवल उत्पादकों की सहकारिता या सहकारी उत्पादकता पर ही विचार करना है।

सहकारी उत्पादकता—इसका उल्लेख पूँजी और श्रम के हित-विरोध को दूर करने के उपायों में किया जा चुका है, इसमें श्रमी ही अपने स्वामी होते हैं, वे ही समस्त व्यवसाय का प्रबन्ध करते और जोखम उठाते हैं, वे व्यवस्था और श्रम दोनों कार्य करते हैं। इस पद्धति में निम्नलिखित लाभ हैं:—

१—श्रमजीवी खूब मन लगा कर काम करते हैं, किसी चीज़ को खराब नहीं जाने देते, उन्हें निरीक्षक की आवश्यकता नहीं होती, यंत्रों और औजारों की सार-संभार अच्छी तरह की जाती है। इस प्रकार कई तरह की बचत होती है।

२—जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इसमें श्रम और पूँजी का हित-विरोध नहीं होता, अर्थात् हड़ताल या द्वारावरोध आदि की चिन्तनीय घटनाओं का अवसर नहीं आता, जो आधुनिक औद्योगिक संसार में किसी भी समय उपस्थित हो सकने वाली बातें हैं। अस्तु, इस प्रकार श्रमियों को लगातार और अच्छी परिस्थितियों में काम करने के प्रयत्न में सफलता मिलती है।

३—जो श्रमी इस प्रकार की व्यवस्था की जोखम उठाते हैं, वे इस विषय में भली प्रकार विचार और निर्णय कर सकते हैं कि प्रबन्ध-कार्य योग्यता तथा ईमानदारी से हो रहा है या नहीं। इस प्रकार उत्पत्ति की इस विधि में उनकी कार्य-क्षमता की वृद्धि होती है।

४—श्रमियों को, श्रमियों की हैसियत से, वेतन तः मिलता ही है, उसके अतिरिक्त उन्हें व्यवस्थापक की हैसियत से मुनाफ़ा और मिलता है।

ये लाभ महत्व-पूर्ण हैं। परन्तु हम इस पद्धति के व्यवहार में उपस्थित होने वाली कठिनाइयों या बाधाओं की भी अवहेलना नहीं कर सकते। उनमें मुख्य निम्न लिखित हैं:—

(क) श्रमी-प्रबन्धकों पर अन्य श्रमी बहुधा बहुत अधिक और प्रायः बिना सोचे समझे नियंत्रण या आलोचना करते हैं। इससे कार्य-क्षमता कम होती है।

(ख) अच्छे प्रबन्धक कम मिलते हैं, कारण कि अन्य श्रमी उनके मानसिक कार्य का यथेष्ट महत्व नहीं मानते, और इसलिये उन्हें यथेष्ट वेतन आदि देने को तैयार नहीं होते।

यद्यपि उपर्युक्त कठिनाइयों और बाधाओं के कारण अभी तक सहकारी उत्पादकता में बहुत कम सफलता मिली है, इसका भविष्य अच्छा मालूम होता है। कठिनाइयों का उपाय किया जा रहा है, और क्रमशः उन पर विजय प्राप्त की जायगी, ऐसी आशा है। सहकारिता के सिद्धान्तों का प्रचार बढ़ रहा है, कितने ही व्यक्ति इन सिद्धान्तों के प्रति अनुराग रखने के कारण, सहकारी व्यवसायों में कम प्रतिफल लेकर भी सेवा करने को तैयार रहते हैं, श्रमियों का व्यवसायों तथा व्यवस्था सम्बन्धी ज्ञान और अनुभव बढ़ रहा है। यदि उनमें पूँजी एकत्र करने की यथेष्ट क्षमता रहे, और पूँजीपतियों को ऐसा अवसर न मिले कि वे उत्पादक के रूप में, व्यवसाय में भाग लेकर श्रमियों पर नियंत्रण करने लग जायँ, तो ऐसी उत्पादन विधि में सफलता अवश्य ही कुछ अधिक हो। ये बातें केवल कल्पित नहीं हैं। रूस में, सहकारिता द्वारा बड़ी मात्रा की उत्पत्ति सफलता-

पूर्वक होना इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। रूस के उदाहरण ने यह भली भाँति सिद्ध कर दिया है कि सहकारिता में सर्व साधारण जनता का उद्धार या उत्थान करने की विलक्षण क्षमता है; जो देश या जाति जितना चाहे, इससे लाभ उठा सकता है।

उन्नीसवाँ अध्याय

एकाधिकार

—:*:—

प्राक्कथन—पिछले अध्याय में यह बताया जा चुका है कि मिश्रित पूँजी की कम्पनी, जब अपना क्षेत्र बढ़ा लेती है, अथवा उसी तरह की अन्य कम्पनियों को अपने में मिला लेती है, तो वह उत्पत्ति का एकाधिकार प्राप्त करने लग जाती है। इसके अतिरिक्त, कुछ कारोबार ऐसे भी हैं, जो बड़ी मात्रा की उत्पत्ति करने वाले न होते हुए भी एकाधिकार के रूप में होते हैं, जैसे किसी पुस्तक या चित्र छपाने का एकाधिकार। इस अध्याय में हमें यह विचार करना है कि एकाधिकार का अर्थ क्या है, उसके कितने भेद हैं, तथा उसके क्या लाभ-हानि हैं।

एकाधिकार किसे कहते हैं—जब किसी एक ही व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूह के हाथ में किसी वस्तु के उत्पादन अथवा क्रय-विक्रय का अधिकार आ जाता है, तो उसका यह अधिकार एकाधिकार कहलाता है; उदाहरणार्थ किसी बिजली कंपनी का बिजली पैदा करने तथा उसे एक निर्धारित क्षेत्र तक के उपयोग के लिये पहुँचाने का एकाधिकार, अथवा सरकार का डाक लाने लेजाने का एकाधिकार कोई अन्य व्यक्ति या दूसरी

संस्था बिजली पहुँचाने अथवा डाक लाने लेजाने का कार्य नहीं कर सकती। उद्योगवाद के आधुनिक काल में इस प्रकार के अथवा अन्य प्रकार के विविध एकाधिकार पाये जाते हैं। जब किसी उद्योगधन्धे के एकाधिकार में दूसरे उत्पादक या क्रय विक्रय करने वाले की बिलकुल प्रतियोगिता नहीं होती, तो उक्त एकाधिकार को 'पूर्ण एकाधिकार' कहा जाता है। और, जब किसी उद्योगधन्धे में एकाधिकारी का पूर्ण एकाधिकार न होकर, उस वस्तु की सम्पूर्ण पूर्ति के कुछ भाग पर ही अधिकार होता है, तो यह 'आंशिक एकाधिकार' कहलाता है।

एकाधिकार का वर्गीकरण—विविध अर्थशास्त्रियों ने एकाधिकार का भिन्न भिन्न प्रकार से वर्गीकरण किया है। हम तीन वर्गीकरणों पर विचार करेंगे; इनमें से प्रथम क्षेत्रफल की दृष्टि से है, इसके निम्नलिखित भेद हैं:—स्थानीय, राष्ट्रीय, और अन्तर्राष्ट्रीय। (क) जब एकाधिकार का क्षेत्र थोड़े से ही क्षेत्रफल अथवा किसी विशेष स्थान तक ही परिमित होता है तो यह स्थानीय एकाधिकार कहलाता है। उदाहरण के लिये मान लीजिये कि एक ही गोशाला सम्पूर्ण प्रयाग की दूध की माँग की पूर्ति करती है, तो यह कहा जायगा कि इस गोशाला का स्थानीय एकाधिकार है। (ख) जब एकाधिकार का क्षेत्र एक राष्ट्र तक परिमित होता है तो यह राष्ट्रीय एकाधिकार कहलाता है। उदाहरण के लिये मान लीजिये कि किसी ने कोई नया आविष्कार किया, और उसकी सहायता से कोई बहुत उपयोगी वस्तु बनायी, फिर इसका भारत सरकार से क़ानूनन विशेषाधिकार अर्थात् 'पेटन्ट' प्राप्त कर लिया,* जिससे भारतवर्ष भर में

* यह विशेषाधिकार 'पेटन्ट ऐन्ड कापी राइट' ऐक्ट के अनुसार मिलता है।

कोई अन्य व्यक्ति उसे न बना सके, और बनाये तो कानून के अनुसार दंडित हो। अब, भारतवर्ष में अन्य कोई व्यक्ति उस वस्तु को नहीं बना सकता। परन्तु अन्य देशों में उसका 'पेटन्ट' नहीं है। अतः उस व्यक्ति का यह एकाधिकार भारतवर्ष तक परिमित है। (ग) जब एकाधिकार का क्षेत्र एक से अधिक राष्ट्रों तक फैला हुआ होता, है तब वह अन्तर्राष्ट्रीय एकाधिकार कहलाता है। उदाहरणार्थ एक व्यापारी अपनी वस्तु का पेटन्ट यदि कई राष्ट्रों में करा ले तो वह अन्तर्राष्ट्रीय एकाधिकार कहा जायगा।

एकाधिकार का दूसरा वर्गीकरण स्वामित्व की दृष्टि से किया जाता है। इसके दो भेद हैं:—सार्वजनिक और व्यक्तिगत। (क) जिस एकाधिकार का मालिक तथा प्रबन्धक स्वयं सरकार हो, या म्युनिसिपैलिटी आदि कोई सरकारी संस्था हो, वह सार्वजनिक एकाधिकार कहलाता है। इसमें सार्वजनिक हित का ध्यान रखा जाता है, व्यक्तिगत हित का नहीं। राष्ट्रीय सरकार की रेलें, अथवा म्युनिसिपैलिटी की ओर से किया हुआ जल, बिजली या टेलीफोन आदि का प्रबन्ध इस प्रकार के एकाधिकार के उदाहरण हैं। (ख) जिस एकाधिकार का मालिक तथा प्रबन्ध करने वाला कोई व्यक्ति या व्यक्ति-समूह होता है (इसमें साझेदारी फर्म, मिश्रित पूँजी वाली कंपनियाँ आदि सम्मिलित हैं), उसे व्यक्तिगत एकाधिकार कहते हैं। इसके मालिक सार्वजनिक हितों को गौण समझते हैं, वे अपने निजी हितों का ही ध्यान रखते हैं।

एकाधिकार का तीसरा वर्गीकरण निम्नलिखित प्रकार से किया जाता है:—(क) जो एकाधिकार किसी प्राकृतिक पदार्थ की कमी से, अथवा उसके एक ही स्थान में पाये जाने के कारण हो जाता है, उसे प्राकृतिक एकाधिकार कहते हैं, उदाहरणार्थ,

बंगाल का जूट का एकाधिकार, और दक्षिण अफ्रीका का हीरे का एकाधिकार। (ख) जो एकाधिकार सामाजिक तथा आर्थिक कारणों द्वारा स्थापित हो जाते हैं वे सामाजिक एकाधिकार कहलाते हैं। उदाहरण के लिये स्थानीय सरकारों की बिजली अथवा जल का एकाधिकार ले सकते हैं। यह आवश्यक है कि इनका ऐसा प्रबन्ध हो, जिसमें सार्वजनिक हितों का ध्यान रखा जाय। आर्थिक कारणों द्वारा भी यह सम्भव नहीं है कि मामूली शहरों में दो दो 'वाटर वर्क्स' काम करें, क्योंकि ऐसा करने से द्रव्य का दुरुपयोग होगा। (ग) जो एकाधिकार राज्य के नियमों के अनुसार स्थापित होते हैं, वे क़ानूनी एकाधिकार कहलाते हैं। उदाहरण के लिये पेटेन्ट या कापी राइट आदि का एकाधिकार ले सकते हैं। इन क़ानूनी एकाधिकारों में भी सार्वजनिक हित का ध्यान रखा जाता है। (घ) भिन्न भिन्न व्यापारी या व्यवसायी अपनी आत्म रक्षा तथा लाभ के लिये आपस में मिल कर जब एकाधिकार स्थापित कर लेते हैं तो यह स्वेच्छा एकाधिकार कहलाता है। पाश्चात्य देशों के मिट्टी के तेल, लोहे, इस्पात, तंबाकू और सिगरेट आदि के व्यवसाय इसके उदाहरण हैं।

ट्रस्ट और कार्टेल—स्वेच्छा-एकाधिकार के अन्तर्गत 'ट्रस्ट' 'कार्टेल' आदि उद्योग-संघों का विचार किया जाना आवश्यक है, कारण कि इनमें न्यूनाधिक एकाधिकार होता है। 'ट्रस्ट' में जो उद्योग धन्धे मिलते हैं, उनका अपना व्यक्तित्व नहीं रहता। उन सब का पूर्ण मिश्रण होकर एक संस्था बन जाती है, जिसका प्रबन्ध समष्टि-रूप से होता है, जैसे न्यूयार्क की 'स्टैंडर्ड आयल कंपनी' जिसमें अमरीका की, तेल का काम करने वाली बहुत सी कंपनियाँ मिली हुई हैं। 'कार्टेल' में जो उद्योग धन्धे मिलते हैं, उनका कुछ अपना व्यक्तित्व रहता है। वे अपने प्रबंध

आदि में कुछ स्वाधीन होते हैं। वे केवल कुछ खास बातों की दृष्टि से ही अपना संघ बनाते हैं। उदाहरणवत् वे सम्मिलित रूप से यह निश्चय करते हैं कि वस्तुओं की कीमत अमुक दर से होगी, अथवा कुल मिला कर अमुक परिमाण में माल तैयार किया जायगा। 'कार्टेल' अपने अधीन संस्थाओं के लिये मुनाफे की दर निर्धारित नहीं करता। इस प्रकार उसका संगठन ट्रस्ट की अपेक्षा कुछ शिथिल होता है, इसमें स्थिरता भी कम होती है।

ट्रस्ट आदि का निर्माण—औद्योगिक संसार में प्रतियोगिता हर समय बनी रहती है। कल्पना करो, किसी नगर में पहले एक ही उत्पादक कपास ओटने का कारखाना चला रहा है। उसे देख कर, लाभ की आशा से, दूसरा आदमी भी वैसा ही कारखाना चालू कर देता है। अब दोनों एकाकी उत्पादकों की एक दूसरे से प्रतियोगिता होती है। क्रमशः उन्हें यह इच्छा होती है कि वे दोनों मिल कर साझेदारी कर लें। साझेदार बन जाने पर, उनकी पारस्परिक प्रतियोगिता दूर हो जाती है। कुछ समय बाद एक व्यवसाय-बुद्धि वाला साहसी इस प्रश्न पर विचार करता है। वह सोचता है कि यदि अच्छी बढ़िया मशीनें लगायी जायँ तो काम अधिक किफायत से हो सकता है; फिर यदि कार्यक्षेत्र और बढ़ा दिया जाय, उदाहरणवत् सूत कातने और कपड़ा बुनने का भी काम किया जाय तो खूब मुनाफा हो। परन्तु इसके लिये बहुत बड़ी पूँजी की ज़रूरत होती है, जिसे लगाना, तथा जिसके हानि-लाभ की जोखम उठाना एक दो व्यक्तियों के वश की बात नहीं है। इस विचार से एक मिश्रित पूंजी की कंपनी कायम की जाती है, और कपड़ा बुनने की मिल चालू की जाती है। कालान्तर में उसकी देखा-देखी, और उसे मिलने वाले मुनाफे का विचार

करके, दूसरे आदमी उसी प्रकार की एक दूसरी कम्पनी बना कर एक और कपड़े की मिल चलाने लगते हैं। अब इन दो मिलों में पारस्परिक प्रतियोगिता होती है। इस प्रतियोगिता में एक कम्पनी कपड़े की कीमत घटा कर कुछ ग्राहकों को अपनी ओर आकर्षित करती है, तो दूसरी कम्पनी ग्राहकों को अन्य प्रकार की सुविधाएँ देने का प्रयत्न करती हैं। इससे दोनों कंपनियों की, और यदि इस बीच में तीसरी या चौथी कम्पनी भी उसी नगर में या उसके आस पास स्थापित हो जाय, तो इन सभी कंपनियों की, हानि होने लगती है। तब जो कंपनियाँ इतनी हानि नहीं सह सकतीं, वे या तो स्वयं अपना काम बन्द कर देती हैं, अथवा बड़ी पूँजी वाली कंपनी से अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेती हैं। इस प्रकार कभी कभी ट्रस्ट या कार्टेल आदि स्थापित हो जाते हैं।

ट्रस्ट बनने का एक कारण तो यह होता है कि बड़ी पूँजी से होने वाले, बड़ी मात्रा के उत्पादन से औद्योगिक तथा व्यापारिक बचत अधिक होने की आशा होती है। दूसरा और विशेष कारण यह होता है कि इससे पारस्परिक प्रतियोगिता कम होकर, वस्तु के एकाधिकारी को लाभ अधिक मिलता है।

मिलन का वर्गीकरण—पहले कहा गया है कि ट्रस्ट आदि का निर्माण कई एक कम्पनियों या फर्मों के मिलन से होता है। अपने उद्देश्य के अनुसार मिलन का वर्गीकरण निम्नलिखित संघों में किया जाता है।

(१) विक्रय सम्बन्धी संघ। ये संघ माल की बिक्री, बट्टा, माल पहुँचाना, उधार देना आदि के सम्बन्ध में नियम बनाते हैं। ऐसे संघ प्रायः प्रत्येक व्यापारिक नगर में पाये जाते हैं।

(२) क़ीमत सम्बन्धी संघ—व्यवसायी लोग मिल कर आपस में यह तय कर लेते हैं कि एक निश्चित क़ीमत से कम

पर माल न बेचा जाय। परन्तु इसको मानने के लिये विभिन्न व्यवसायी क़ानूनन बाध्य नहीं होते। ऐसे संघों का उदाहरण प्रायः जहाज़ की कंपनियों में मिलता है। किसी किसी व्यवसाय में प्रायः विभिन्न कंपनियों द्वारा उत्पत्ति माँग से कहीं अधिक हो जाती है और, इससे क़ीमत कम हो जाने के कारण सब को नुक़सान उठाना पड़ता है। इसको दूर करने के लिये व्यवसायी गण आपस में मिल कर यह तय कर लेते हैं कि एक निश्चित परिमाण से अधिक उत्पादन न किया जाय। इसका उदाहरण पिछले वर्षों हमें भारत के जूट के व्यवसाय में मिला है।

(३) विक्रय क्षेत्र निर्धारक संघ। कुछ उत्पादक आपस में कुछ देश या प्रान्त बाँट लेते हैं, और उनमें ही अपनी चीज़ें बेचते हैं। इस प्रकार अनावश्यक प्रतियोगिता दूर हो जाती है। अमरीका की इम्पीरियल टुबैको (तमाखू) कंपनी, और अमरीकन टुबैको ट्रस्ट इसके उदाहरण हैं।

(४) विक्रय संघ। कभी कभी कुछ कंपनियाँ अपना अपना व्यक्तित्व क़ायम रखते हुए भी, अपनी वस्तुओं के विक्रय का भार एक केन्द्रीय संघ को सौंप देती हैं। प्रायः यह केन्द्रीय संघ मिश्रित पूँजी वाली कंपनी के रूप में स्थापित किया जाता है और, इसके द्वारा वस्तु बेचने वाली कंपनियाँ ही इसके सब हिस्से खरीद लेती हैं। यह संघ प्रत्येक कंपनी की उत्पत्ति तथा उसकी कीमत निश्चित करता है, और उसे बेचता है।

मिलन के लिए अनुकूल दशाएँ—निम्नलिखित दशाएँ मिलन के वास्ते सुविधाजनक होती हैं :—

(क) प्रतिद्वन्दियों की संख्या का कम होना। थोड़े से आदमी तो कोई बात शीघ्र ही तय कर सकते हैं, परन्तु यदि उनकी संख्या अधिक हो तो समझौता करने में कठिनाई होती

है। जर्मनी में जब शुरू में दियासलाई के व्यापार में मिलन स्थापित करने की योजना की गयी थी, तो यही कठिनाई हुई थी।

(ख) प्रतिद्वन्द्वी उत्पादकों का समीप होना। जब विभिन्न प्रतिद्वन्द्वी दूर दूर न रह कर, एक ही स्थान पर, अथवा पास पास ही रहते हैं तो मिलन की सम्भावना अधिक होती है। जर्मनी के उद्योग धन्धों का इतना मिलन इसी लिये हो सका है कि वे बहुत पास पास थे।

(ग) उत्पन्न वस्तु की विभिन्नता न होना। जब प्रतिद्वन्द्वी उत्पादकों की उत्पत्ति वैयक्तिक पसन्द की न होकर साधारण और एकसी ही होती है, तो मिलन की अधिक सम्भावना होती है, कारण कि यदि उस वस्तु का उत्पादन विभिन्न मनुष्यों की पसन्द पर निर्भर है तो उसमें बड़ी मात्रा की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी, और एकाधिकार प्राप्त कर लेने से कोई विशेष लाभ न होगा।

(घ) सामूहिकरूप से काम करने की आदत। देश की स्थिति और वहाँ की रस्म-रिवाजों का भी मिलन पर बहुत प्रभाव पड़ता है। जिस देश के रहने वालों की सामूहिक रूप से काम करने की आदत है, वहाँ मिलन अधिक संभव है।

(च) अधिक पूँजी की आवश्यकता होना। जिस उद्योग धन्धे के संचालन में अधिक पूँजी की आवश्यकता होती है, उसमें व्यवसाय को सुचारु रूप से चलाने के लिये मिलन की अधिक संभावना है और अधिक पूँजी व्यय होने के कारण किसी दूसरे प्रतिद्वन्द्वी मिलन के खड़े हो जाने की संभावना बहुत कम हो जाती है।

(छ) संरक्षण का होना। सरकार की संरक्षण नीति का भी मिलन पर बहुत प्रभाव पड़ता है। यदि सरकार किसी

उद्योग धन्धे को सुविधाएँ और विदेशी प्रतियोगिता से संरक्षण प्रदान करती है तो उसमें मिलन की अधिक संभावना है।

मिलन के प्रतिकूल अवस्थाएँ—निम्नलिखित अवस्थाओं में मिलन होना कठिन है :—

(१) जब कि प्रत्येक परिवार केवल अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ ही बनाता है। (वास्तव में मिलन होना तो तभी संभव है जब कि विस्तृत बाज़ार के लिये वस्तुओं का उत्पादन हो।) परन्तु आधुनिक काल में यह प्रतिकूल अवस्था मुश्किल से पाई जाती है।

(२) जब कि बहुत से उत्पादक थोड़ी थोड़ी वस्तुएँ पैदा करते हों। इसका सब से अच्छा उदाहरण कृषि है। इसमें हज़ारों कृषक थोड़ा थोड़ा अनाज पैदा करते हैं अतः उनमें मिलन स्थापित करना कठिन है।

एकाधिकार के लिये आवश्यक अवस्थाएँ—दो बातें ऐसी हैं, जिनके होने से ही किसी उद्योग धन्धे में एकाधिकार हो सकता है :—

(१) उस उद्योग धन्धे में बड़े पैमाने का कारोबार लाभदायक हो तथा उस कारोबार द्वारा उस वस्तु की सम्पूर्ण माँग की पूर्ति हो सके। वास्तव में बदलते हुए फैशन और व्यक्तिगत पसन्द की वस्तुओं तथा भूमि से उत्पन्न होने वाली वस्तुओं को छोड़ कर प्रायः अन्य सभी वस्तुओं की बड़ी मात्रा की उत्पत्ति लाभदायक होती है। कुछ उद्योग धन्धों में विशेषतया रेल, बिजली, गैस आदि की कंपनियों में यह आवश्यक है कि एक शहर में एक ही कंपनी हो, और वह बड़ी मात्रा की उत्पत्ति, करे, अन्यथा अनावश्यक प्रतियोगिता के कारण द्रव्य का दुरुपयोग होगा।

(२) वह वस्तु बे-लोच माँग* वाली हो, जिससे कीमत बढ़ने पर माँग में विशेष कमी न हो, और इस प्रकार मुनाफे का परिमाण अधिक से अधिक होने में बाधा न हो। एकाधिकार प्राप्त करने वालों की यह इच्छा होती है कि वे अधिक से अधिक लाभ प्राप्त कर सकें, और यह बात बे-लोच माँग वाली वस्तुओं के बारे में अधिक सम्भव है।

बे-लोच माँग वाली वस्तु के लिये निम्नलिखित बातों की आवश्यकता होती है :—

(क) वह जीवन-रक्षक या निपुणतादायक पदार्थ हो और उस वस्तु की जगह कोई दूसरी वस्तु आसानी से काम में न लाई जा सके। इस प्रकार एकाधिकारी यदि कुछ कीमत बढ़ा भी देगा तो भी उस वस्तु की माँग में कोई विशेष कमी न होगी।

(ख) जिस वस्तु के उत्पादन में यह वस्तु कच्चे माल के रूप में काम आती हो, उसमें इसके उपयोग का अनुपात बहुत कम हो। इससे यदि इस वस्तु की कीमत अधिक भी बढ़ेगी तो भी इसकी माँग पर अधिक प्रभाव न पड़ेगा।

(ग) जिन वस्तुओं के लिये यह कच्चे माल के रूप में काम आती हों, उन वस्तुओं की माँग भी बे-लोच हो।

एकाधिकार में वस्तुओं के उत्पादन की सीमा— अब हम इस प्रश्न पर विचार करते हैं कि एकाधिकार में वस्तुओं का उत्पादन किस सीमा तक होता है। एकाधिकारी का ध्येय वस्तुओं को अधिक से अधिक मात्रा में उत्पन्न करने का नहीं रहता, वरन् यह रहता है कि उत्पादन से अधिक से

---

* In-elastic demand.

अधिक लाभ प्राप्त हो। वह उत्पादन उस सीमा पर बन्द कर देता है जब उसके संपूर्ण लाभ की मात्रा घटने लगती है। यह सीमा एक उदाहरण द्वारा नीचे बतलायी जाती है। मान लीजिये कि किसी नगर में एक कंपनी को बिजली उत्पन्न करने का एकाधिकार दे दिया गया है। यह निश्चित करने के पहले कि प्रति दिन कितनी बिजली उत्पन्न की जाय, कंपनी का व्यवस्थापक यह जानने का प्रयत्न करता है कि भिन्न भिन्न परिमाणों में बिजली उत्पन्न करने पर प्रति 'यूनिट' (एकाई) लागत-खर्च क्या लगेगा और भिन्न भिन्न कीमतों पर किन परिमाणों में बिजली की माँग होगी। मान लीजिये कि उस कंपनी का बिजली का लागत-खर्च और माँग नीचे लिखे अनुसार है :—

बिजली का उत्पन्न प्रति दिन (हज़ार यूनिट में)	लागत-खर्च प्रति 'यूनिट'	कीमत प्रति 'यूनिट' (जिस पर सब परिमाण माँगा जायगा)	एकाधिकार का लाभ (प्रति दिन)
१	।=)	।।)	२ हज़ार आने
२	।-)	।=)	२ ,, ,,
३	।)	।-)	३ ,, ,,
४	≡)	।)	४ ,, ,,
५	=)।।	≡)।।	५ ,, ,,
६	=)	≡)	६ ,, ,,
७	-)।।	=)।	४¾ ,, ,,
८	-)	-)।।	४ ,, ,,
९	-)।।	-)।	नुकसान
१०	=)	-)	,,

इस कोष्ठक से मालूम होता है कि बिजली की कंपनी यदि

एक हज़ार यूनिट प्रतिदिन उत्पन्न करे तो उसे लागत-खर्च ।=) प्रति यूनिट लगेगा और ॥) प्रति यूनिट के हिसाब से वह सब बिक जायगी। इस प्रकार उसे प्रति यूनिट =) लाभ होगा। एक हज़ार यूनिट पर यह लाभ दो हज़ार आने के बराबर होगा। यह लाभ कोष्ठक के आखिरी कालम में बतलाया गया है। अन्य परिमाणों का लाभ भी इसी प्रकार कूता गया है। इस कोष्ठक को देखने से मालूम होता है कि बिजली की कंपनी को सब से अधिक लाभ (६ हज़ार आने प्रति दिन) तब होता है, जब वह ६ हज़ार यूनिट बिजली प्रति दिन उत्पन्न करती है। ७ हज़ार यूनिट उत्पन्न करने पर उसका लाभ कम होने लगता है इसलिये वह ७ हज़ार यूनिट उत्पन्न करने का प्रयत्न नहीं करती। वह ६ हज़ार यूनिट प्रति दिन उत्पन्न करके ≡) प्रति यूनिट के हिसाब से बेच देती है। इससे कंपनी को तो सब से अधिक लाभ होता है, परन्तु देश को तथा उपभोक्ताओं को, इस कारखाने में जो क्रमागत-वृद्धि नियम के लगने से लागत-खर्च में कमी होती है, उसका पूरा लाभ नहीं मिल जाता। कोष्ठक देखने से मालूम होता है कि इस कारखाने में आठ हज़ार यूनिट प्रति दिन उत्पन्न करने पर लागत-खर्च सब से कम होता है, और यदि वह –)॥ प्रति यूनिट के हिसाब से बेचा जाय तो सब बिजली प्रति दिन बिक जाय और कंपनी को भी ४ हज़ार आना प्रति दिन लाभ हो। परन्तु कंपनी ६ हज़ार आना प्रति दिन लाभ के लालच से ६ हज़ार यूनिट प्रति दिन उत्पन्न करके ≡) प्रति यूनिट के हिसाब से बेचती है। वह उपभोक्ताओं के लाभ की बिलकुल परवाह नहीं करती। ऐसी दशा में सरकार या म्युनिसिपैलिटी, जिसने उसे अधिकार दिया है, यदि यह शर्त लगा दे कि कंपनी उस नगर में =) प्रति यूनिट से अधिक कीमत न ले सकेगी तो कंपनी को बाध्य होकर आठ हज़ार

यूनिट प्रति दिन उत्पन्न करके उसे -)॥ प्रति यूनिट के हिसाब से बेचना पड़ेगा। इससे उपभोक्ताओं को लाभ यह होगा कि बिजली आधे दाम पर अर्थात् -)॥ प्रति यूनिट मिलने लगेगी, और कंपनी को भी काफी लाभ अर्थात् ४ हज़ार आना प्रति दिन मिलता जायगा। यदि म्युनिसिपालिटी या सरकार बिजली की ऐसी क़ीमत (अर्थात् -)। यूनिट) निश्चय करती है जिस पर बेचने से कंपनी को लाभ ही न हो तो कंपनी बिजली उत्पन्न करना ही स्वीकार न करेगी। इस उदाहरण से यह स्पष्ट है कि यदि एकाधिकार का नियंत्रण न किया जाय तो देश और उपभोक्ताओं को हानि उठानी पड़ती है। नियंत्रण, वस्तु की अधिक से अधिक क़ीमत निश्चित करने के सम्बन्ध में ही हो सकता है, और यह क़ीमत बहुत सोच-विचार के बाद निश्चित की जानी चाहिये।

एकाधिकार के लाभ—एकाधिकार से होने वाले मुख्य लाभ निम्नलिखित हैं:—

एकाधिकार न होने की दशा में विविध कम्पनियाँ अनुसंधान और प्रयोग में कुछ रुपया व्यय किया करती हैं। प्रत्येक कम्पनी का यह रुपया अनुसंधान की दृष्टि से कम होता है, परन्तु सब कम्पनियों का मिल कर, एक ही प्रयोग पर बहुत अधिक खर्च हो जाता है। एकाधिकार से यह दोष दूर हो जाता है। विभिन्न कंपनियों के एक हो जाने पर इस कार्य के लिये कुल मिला कर अधिक खर्च नहीं होता; अपेक्षाकृत कम रुपये से ही अधिक प्रयोग और अनुसंधान हो सकते हैं।

एकाधिकार होने से वस्तु का उत्पादन माँग के अनुसार ही होता है। एकाधिकारी को बाज़ार की माँग का पता रहता है, और वह उसके अनुसार ही उत्पादन करता है। इसके विपरीत, जब कंपनियाँ अलग अलग रहती हैं तो प्रत्येक कंपनी

अधिक से अधिक बेचने की आशा में खूब उत्पादन करती है, और उसके लिये काफी मशीनें रखती हैं। परन्तु पीछे जब माँग कम हो जाती है तो कितनी ही मशीनें बेकार पड़ी रहती हैं। एकाधिकार होने से ये खराबियाँ दूर हो जाती हैं।

एकाधिकार होने से लाभ की अनिश्चितता कम हो जाती है। प्रतियोगिता कम हो जाने से यह स्वाभाविक ही है। आवश्यकता पड़ने पर एकाधिकारी को आसानी से तथा कम व्याज पर रुपया उधार मिल सकता है। एकाधिकारी को डिवीडेंड अर्थात् मुनाफे की दर बराबर रखने के लिये कोष में अधिक रुपया रखने की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि प्रति वर्ष लाभ प्रायः बराबर होता रहता है। एकाधिकार होने से विभिन्न कंपनियों का विज्ञापन और प्रचार का खर्च कम हो जाता है। इकट्ठी खरीद करने के कारण एकाधिकारी को कच्चा माल भी सस्ता मिल सकता है। इसके अतिरिक्त, एकाधिकारी सरकार पर प्रभाव डाल कर कुछ सुविधाएँ प्राप्त कर सकते हैं।

एकाधिकार की हानियाँ—एकाधिकार के लाभ जान लेने के साथ, इससे होने वाली हानियों को भी जान लेना चाहिये। प्रथम तो एकाधिकारी का उद्देश्य अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करना होता है। वह सर्व साधारण उपभोक्ताओं के हित का ध्यान न रख कर वस्तु की कीमत यथा-संभव बढ़ाते रहने की ओर प्रवृत्त रहता है। अवश्य ही एक सीमा ऐसी है कि उसके आगे कीमत बढ़ाने से (वस्तु की माँग कम हो जाने के कारण) उसके लाभ का परिमाण कम होने लगता है। एकाधिकारी इस सीमा से आगे कीमत नहीं बढ़ाता, परन्तु इस सीमा तक तो बढ़ा ही सकता है, और इससे बे-लोच माँग वाली वस्तुओं के उपभोक्ताओं को बड़ी हानि तथा असुविधा होती है।

पुनः एकाधिकारी अपने लाभ का परिमाण बढ़ाने के लिये

अपनी वस्तु के बाजार का क्षेत्र बढ़ाने को उत्सुक रहता है। इसलिये वह कभी कभी ऐसा करता है कि विदेशों में उस वस्तु को बहुत सस्ता कर देता है, चाहे इससे उसको आरंभ में कुछ समय तक हानि ही क्यों न हो। इसमें उसका हेतु यह रहता है कि विदेश में उस वस्तु की उत्पत्ति करने वालों को हानि हो, और वे प्रतियोगिता में न ठहर सकने के कारण उसका उत्पादन बन्द कर दें। तब इस एकाधिकारी को अपनी वस्तु का मूल्य बढ़ा कर बेचने तथा खूब मुनाफा लेने का अवसर मिलता है। स्मरण रहे कि कुछ चीज़ें ऐसी होती हैं, कि उनकी उत्पत्ति एक बार बन्द कर देने पर, फिर जल्दी उसके लिये विविध साधन जुटाना बड़ा कठिन होता है। उदाहरणावत् विगत वर्षों में भारतवर्ष में विदेशी चीनी इतनी सस्ती आयी कि कृषकों ने गन्ने की खेती का क्षेत्रफल कम कर दिया; और फिर बाद में जब सरकार की संरक्षण से चीनी में लाभ होने की संभावना हुई तो गन्ने की खेती का क्षेत्र धीरे धीरे बड़ी कठिनाई से बढ़ा।

एकाधिकार से तीसरी, और सबसे बड़ी हानि यह है कि एकाधिकारी के पास द्रव्य की ऐसी और इतनी शक्ति होती है कि वह उसके बल पर देश में क़ानून बनाने वालों तथा विविध अधिकारियों पर अपना प्रभाव डाल सकता है; लोभ लालच, रिश्वत या भेंट आदि के नाना प्रकार के उपायों को काम में लाकर वह उन्हें अपने पक्ष में करने का प्रयत्न करता है, और बहुधा इसमें सफल होता रहता है। उसका स्वतंत्रता-पूर्वक विरोध करने की किसी में सामर्थ नहीं रहती। इससे देश की राजनीति बहुत कलुषित हो जाती है। एकाधिकार द्वारा जनता का यह नैतिक पतन होना बहुत चिन्तनीय है। संयुक्त राज्य अमरीका आदि उद्योग-प्रधान राज्यों के सामने एकाधिकार के इस परिणाम-स्वरूप बड़ी विकट समस्या उपस्थित हो गई है।

एकाधिकार का नियंत्रण—उपर्युक्त हानियों के कारण प्रत्येक राज्य एकाधिकार का यथा-संभव नियंत्रित करने का प्रयत्न करता है। नियंत्रण की मुख्य विधि यह हैं :—

(१) एकाधिकार की वस्तु या सेवा की अधिकतम क़ीमत क़ानून से निर्धारित कर दी जाय; एकाधिकारी उस कीमत से अधिक किसी उपभोक्ता से न ले सके। उदाहरणावत् रेलवे कंपनी के विषय में ऐसा नियम कर दिया जाय कि वह निर्धारित दूरी की यात्रा करने वालों से अधिक से अधिक इतना किराया ले। परिस्थिति के परिवर्तन से क़ानून के अनुसार यह किराया घटाया जा सकता है, परन्तु यदि इसे क़ानून द्वारा बढ़वाना अभीष्ट हो तो बहुत कठिनाई होती है।

एकाधिकार-नियंत्रण की यह विधि बहुत सफल नहीं होती, कारण कि क़ानून द्वारा अधिकतम मूल्य निर्धारित होते समय एकाधिकारी इस बात का खूब प्रयत्न करता है कि यह मूल्य काफी अधिक रहे। क्योंकि उसके पास द्रव्य की शक्ति होती है, वह अच्छे अच्छे मस्तिष्क वालों का उपयोग कर सकता है, और क़ानून बनाने वालों पर अपना प्रभाव डाल सकता है, इस लिये प्रायः वह अपने प्रयत्न में सफल रहता है, उसका विशेष नियंत्रण नहीं हो पाता।

(२) एकाधिकार-नियंत्रण की दूसरी विधि एकाधिकार-विरोधी क़ानून बनाना है, जिससे सरकार की आज्ञा के बिना एकाधिकार की स्थापना गैर-क़ानूनी समझी जाय, और कोई व्यक्ति या व्यक्ति-समूह एकाधिकारी न बने। परन्तु यह उपाय भी यथेष्ट रूप में सफल नहीं हो रहा है, कारण कि एकाधिकारी बनने वाले व्यक्ति या व्यक्ति-समूहों ने प्रकारान्तर से अपना उद्देश्य सिद्ध करने का मार्ग निकाल लिया है। वे क़ानून से बचने के लिये, एकाधिकार की प्रत्यक्ष रूप में स्थापना नहीं करते, परन्तु

वास्तविक व्यवहार में उसकी स्थापना कर ही लेते हैं; सब कारोबार इस प्रकार होता है, जैसे एकाधिकार में होने की रीति है, केवल उसे एकाधिकार का नाम नहीं दिया जाता।

इस प्रकार राज्य द्वारा प्रबल एकाधिकार का नियंत्रण बहुत कम सफल होता है। एकाधिकारी की रुपये की शक्ति के सामने राज्य-कर्मचारियों तथा क़ानून निर्माताओं की कुछ विशेष नहीं चलती। हाँ, इसका एक उपाय है, वह है स्वयं राज्य का एकाधिकार स्थापित करना, जिससे फिर किसी अन्य व्यक्तिगत या सामुहिक एकाधिकार की स्थापना का प्रश्न ही उपस्थित न हो सके। सरकार द्वारा उत्पत्ति की जाने के सम्बन्ध में अगले अध्याय में विचार किया जायगा।

बीसवाँ अध्याय

सरकार और उत्पत्ति

—:*:—

किसी देश में होने वाली उत्पत्ति बहुत-कुछ वहाँ की शान्ति और सुव्यवस्था पर निर्भर है। यदि राज्य में चोरी डाके का हर दम खटका लगा रहे, 'जिस की लाठी, उसकी भैंस' हो, तो उत्पत्ति बहुत कम हो। सरकार पुलिस, जेल और न्याय की व्यवस्था करके इस बात का प्रबन्ध करती है कि राज्य में बलवान निर्बलों को न सताएँ, कोई दूसरे के माल का अपहरण न करे, सब आदमी अपना अपना कार्य निश्चिन्तता-पूर्वक करते रहें, सब के जान माल की समुचित रक्षा हो। विदेशी आक्रमण होने की दशा में भी नागरिकों के अन्यान्य कार्यों में, उत्पादन में भी बड़ी बाधा उपस्थित होती है, लोगों को जैसे-बने अपने प्राण बचाने

की फिक्र बनी रहती है. ऐसी दशा में उनसे यथेष्ट उत्पत्ति का कार्य कैसे हो सकता है । इस लिये सरकार सेना रखती है, जिससे आवश्यकता होने पर विदेशी आक्रमण को तुरन्त रोका जाय, और देश की रक्षा की जाय ।

इससे स्पष्ट है कि यदि किसी देश में सुसंगठित सरकार न हो, तो वहाँ उत्पत्ति का कार्य सम्यग् रूप से नहीं हो सकता, अथवा यों कहा जा सकता है कि उत्पत्ति के लिए सरकार की अनिवार्य आवश्यकता है । इस दृष्टि से कुछ लेखक सरकार को उत्पत्ति का उसी प्रकार एक साधन मानते हैं, जैसे भूमि, श्रम आदि को । परन्तु अधिकांश पाश्चात्य लेखक ऐसा नहीं मानते । वे यही मान कर चलते हैं कि देश में समाज सुसंगठित है, और सरकार स्थापित है । अतः इस अध्याय में यह विचार किया जाता है कि देश में शान्ति रखने और उसकी बाहरी आक्रमणों से रक्षा करने के अतिरिक्त, सरकार उत्पत्ति में और क्या भाग लेती है ।

सरकार का उत्पत्ति से, निम्नलिखित प्रकार से प्रत्यक्ष सम्बन्ध हो सकता है:—

(१) नियंत्रण द्वारा,
(२) सहायता द्वारा, और
(३) स्वयं उत्पत्ति करके ।

सरकारी नियंत्रण—नियन्त्रण की आवश्यकता विशेषतया उस दशा में होती है, जब आदमी अपने तौर से उत्पत्ति तो यथेष्ट करते हैं, परन्तु उनकी कार्य-विधि से देश या समाज को कुछ हानि होने की आशंका होती है । यदि आदमी परस्पर में छल कपट और बेईमानी का व्यवहार करें तो किसी देश या जाति की औद्योगिक उन्नति विशेष रूप से नहीं हो सकती । अतः ऐसे दुर्व्यवहार को रोकने के लिये सरकार नाना प्रकार

के कानून बनाती है; उदाहरणवत् किसी उद्योग धन्धे में साझेदारों या हिस्सेदारों की देनदारी की जिम्मेवारी कहाँ तक है, यदि कोई आदमी धोखा-धड़ी करके दीवाला निकाले तो उसे क्या दंड दिया जाय, और किसी व्यक्ति के दीवाला निकालने से उन लोगों की हानि किस प्रकार कम से कम हो, जिन्होंने उसके कारोबार में पूँजी लगायी है, बैंकों को अपना हिसाब किस प्रकार प्रकाशित करना चाहिये, जिससे सर्व साधारण को उनके विषय में आवश्यकतानुसार ज्ञान प्राप्त हो जाय, और वे उनकी स्थिति के विषय में अन्धकार में न रहें, संघ और समितियाँ आदि किस प्रकार बनायी जाय, श्रमजीवियों के कुशल क्षेम आदि के सम्बन्ध में कारखानों में क्या व्यवस्था रहे, किन नियमों के पालन से उन्हें चोट-चपेट लगने का अवसर कम आये, उनकी मजदूरी के घंटे कितने हों, तथा उन घंटों के बीच में अथवा प्रतिमास या विशेष आवश्यकता के समय कितना अवकाश दिया जाय, इत्यादि।

सरकार विविध वस्तुओं की उत्पत्ति के एकाधिकार को नियंत्रित करके, एकाधिकार से होने वाली हानियों को भी रोकने का प्रयत्न करती है। नियंत्रण के कार्य में कभी कभी बड़ी पेचीदगी और कठिनाई होती है। उदाहरणवत्, व्यक्तिगत एकाधिकार में सरकार को यह विचार करना होता है कि कार्य भी अच्छा हो, और जनता से उसका मूल्य भी बहुत अधिक न लिया जाय। यदि ऐसा नियम कर दिया जाय कि एकाधिकारी को, निर्धारित परिमाण से अधिक, जितना भी अधिक मुनाफा होगा, उसे सरकार ले लेगी, तो एकाधिकारी अपने प्रबन्ध में बहुत सुधार और मितव्ययिता न करेगा, और उक्त परिमाण से अधिक मुनाफा न होने देगा ; क्योंकि अधिक मुनाफा होने में उसका कोई स्वार्थ न होगा। इस प्रकार नियंत्रण सम्बन्धी उपर्युक्त नियम से उपभोक्ताओं को कोई लाभ न होगा। इस विचार से, बहुधा

ऐसा नियम किया जाता है कि कीमत का मुनाफे से सम्बन्ध स्थापित कर दिया जाता है, ज्यों ज्यों मुनाफा अधिक हो, कीमत घटायी जाती रहे। परन्तु इसमें भी दोष रहता है, बहुधा मुनाफा बहुत होने दिया जाता है और मितव्ययिता तथा सुधार की भावना कम रह जाती है।

पुनः नियंत्रण के नियम बहुत समय तक यथेष्ट उपयोगी नहीं होते, उन्हें समय समय पर बदलते या संशोधित करते रहने की आवश्यकता होती है; और यह कार्य कुछ सुगम नहीं है, एकाधिकारियों की ओर से इस बात का काफी प्रयत्न होता है कि उनके लाभ में कमी करने वाला नियम या संशोधन आदि न हो। वास्तव में किसी कार्य का नियंत्रण तभी अच्छा हो सकता है, जब सरकार उसका सम्यक् अनुभव प्राप्त कर ले; पर, इसमें दोहरा प्रबन्ध होने से बहुत सा व्यर्थ का व्यय होता है, तथा कार्य का उत्तरदायित्व विभक्त होने से भी हानि होती है। इस प्रकार नियंत्रण में विविध कठिनाइयाँ हैं, तथापि कुछ प्रभावोत्पादक नियंत्रण हो सकता है। जब नियंत्रण का कुछ खास परिमित उद्देश्य होता है, तो वह उद्देश्य थोड़े खर्च से पूरा हो सकता है।

प्रायः एकाधिकार में होने वाली उत्पत्ति किसी देश की कुल उत्पत्ति का बहुत थोड़ा सा ही भाग होती है। इसलिये एकाधिकार सम्बन्धी सरकारी नियंत्रण की बात से पाठकों को उत्पत्ति सम्बन्धी कुल सरकारी नियंत्रण की यथेष्ट कल्पना नहीं होगी। नीचे दिये उदाहरणों से सरकारी नियंत्रण के व्यापक क्षेत्र का कुछ अनुमान हो सकेगा। स्थानीय अधिकारी इक्के तांगों और मोटर आदि की किराये की दर निर्धारित करके उनका नियंत्रण करते हैं। कसाईखाने किस जगह हों, तथा उनमें कितने पशु मारे जायँ, आदि के विषय के नियम बनाकर उनका नियंत्रण

किया जाता है। बहुत से स्थानों में सरकार पाठ्य-पुस्तकों का मूल्य निर्धारित कर देती है, अथवा ऐसा नियम बना देती है कि उनकी कीमत प्रति रुपया इतने पृष्ठ के हिसाब से निश्चित की जाय। वैद्य, डाक्टरों, वकीलों आदि को बिना लाइसैन्स अपने पेशे का कार्य न करने देने का नियम बना कर इन पेशों का नियंत्रण किया जाता है। प्रायः प्रत्येक सरकार अपने राज्य में, मादक द्रव्यों की उत्पत्ति का नियंत्रण करती है, वह या तो स्वयं उन पदार्थों को उत्पन्न या तैयार करके, उन्हें निर्धारित शर्तों के अनुसार बेचने के लिये ठेकेदारों को देती है, या वह अपनी देख-रेख में दूसरे आदमियों को उनकी उत्पत्ति या तैयारी की अनुमति देती है। अस्तु, अब हम इस बात का विचार करते हैं किसी राज्य में सरकारी सहायता का उत्पत्ति से कहाँ तक सम्बन्ध हो सकता है।

सरकारी सहायता—कृषि, उद्योग, तथा भिन्न भिन्न व्यवसायों की शिक्षा से उत्पत्ति में बड़ा लाभ होता है, और इस शिक्षा के प्रचार में सहायक होकर अनेक देशों में, सरकार अप्रत्यक्ष रूप से उत्पत्ति में बहुत सहायक होती है। पुनः आधुनिक आर्थिक जगत में मुद्रा का एक विशेष स्थान और उपयोगिता है, इसके निर्माण में उचित मात्रा तथा प्रामाणिकता का बहुत ध्यान रखना होता है, बहुत से देशों में सरकार ही इस कार्य को करती है। सरकार कहीं कहीं बैंकों तथा बीमा सम्बन्धी व्यवस्था भी करती है, इससे भी उत्पत्ति में सहायता मिलती है। परन्तु ये कार्य तो प्रत्येक सभ्य सरकार करती ही है; इनकी सरकारी सहायता में गणना नहीं की जाती। हमें यहाँ सरकार के उन कार्यों का विचार करना है, जिनके करने से यह माना जाता है कि सरकार उत्पत्ति में सहायक होती है। यह कार्य दो प्रकार के हैं; प्रत्यक्ष और परोक्ष।

प्रत्यक्ष सहायता—पहले सरकार की प्रत्यक्ष सहायता का विचार करते हैं। कभी कभी ऐसा होता है कि किसी नये उद्योग धन्धे को आरम्भ करते हुए आदमियों को यह आशंका होती है कि कहीं इसमें लगायी हुई पूँजी से साधारण लाभ या सूद आदि भी न मिले। ऐसी दशा में उसका कार्य चल ही कैसे सकता है? ऐसे उद्योग धन्धे को, जब सरकार उपयोगी समझती है, तो वह कई प्रकार से सहायता प्रदान कर सकती है। सहायता का एक प्रकार यह है कि सरकार न्यूनतम लाभ का जिम्मा ले, अर्थात् यह स्वीकार करे कि यदि निर्धारित लाभ न होगा तो उसमें जितनी कमी रहेगी, उसकी पूर्ति सरकार कर देगी।* इससे, उसमें पूँजी लगाने वालों को यह आश्वासन हो जाता है कि यदि लाभ अधिक न भी हुआ तो जितना सरकार से तय हुआ है, वह तो कहीं नहीं गया। फिर वे निश्चिन्त हो कर उसे आरम्भ करने का साहस करते हैं। इस पद्धति के विपक्ष में यह कहा जा सकता है कि यह आर्थिक दृष्टि से ठीक नहीं है, कारण, कि इससे प्रबन्धक या संचालक को, उस उद्योग धन्धे को भरसक सफल करने की प्रेरणा नहीं होती; निर्धारित लाभ का निश्चय हो जाने से, वह इसके लिये वैसी सावधानी या मितव्ययिता नहीं करता, जो वह उस दशा में करता, जब कि उसे एक-मात्र अपने ही बल पर आश्रित रहना पड़ता। परन्तु यह भी तो सम्भव है कि निर्धारित लाभ का आश्वासन न होने की दशा में वह उस उद्योग धन्धे का कार्य आरम्भ ही न करता। कुछ उद्योग धन्धे ऐसे होते हैं, जो जनता के लिये बहुत ही उपयोगी

---

* भारतवर्ष में रेलों का आरम्भ इसी प्रकार हुआ था, सरकार ने रेलवे कम्पनियों के निर्धारित लाभ की गारंटी या जिम्मेवरी ली थी।

होते हैं, और उनका संचालन अत्यावश्यक होता है। उन्हें उपर्युक्त सहायता मिलना उचित ही है।

कभी कभी सरकार किसी उद्योग धन्धे में लगने वाली पूँजी के साधारण सूद का जिम्मा ले लेती है, जो निश्चय कर दिया जाता है। इस का भी परिणाम उद्योग धन्धे के लिये एक सीमा तक वही होता है, जो लाभ का परिमाण निर्धारित करने से होता है।

कभी कभी सामाजिक या राजनैतिक कारणों से छोटी पूँजी वालों को किसी उद्योग धन्धे में पूँजी लगाने के लिये आकर्षित करना अभीष्ट होता है, जिससे उस उत्पादन कार्य में उनका भी सम्बन्ध रहे, और उसकी वृद्धि में सुविधा हो। किसी उद्योग धन्धे में सर्व साधारण को पूँजी लगाने के लिये प्रोत्साहित करने का एक मार्ग यही है कि उन्हें, कम से कम, उस में लगने वाली पूँजी का सूद मिलने का तो निश्चय हो जाय।

यदि उत्पन्न वस्तु की निर्यात हो सकती है तो सरकार द्वारा दी जाने वाली आर्थिक सहायता का दूसरा रूप निर्यात पर सहायता प्रदान करना हो सकता है। सरकार उद्योग धन्धे के संचालकों से यह तय कर लेती है कि निर्यात की प्रति एकाई पर उन्हें अमुक परिमाण में सहायता दी जायगी। प्रायः इस प्रकार सहायता देने में, जितना उत्पन्न माल के विचार से सहायता देने में खर्च होता है उसकी अपेक्षा कम खर्च होता है,। परन्तु, इसमें एक दोष यह है कि इस दशा में उद्योग धन्धे के संचालकों को अपना माल बाहर खपाने की चिन्ता अधिक रहने लगती है, और वे स्वदेश की अपेक्षा विदेशों के बाजार का ध्यान अधिक रखने लगते हैं।

कुछ दशाओं में सरकार किसी उपयोगी उद्योग-धन्धे के लिये, बाजार-दर से कम दर पर रुपया उधार दे सकती है, अथवा

कुछ विशेष आवश्यक कार्यों के लिये खर्च का कुछ भार ही स्वयं अपने ऊपर ले सकती है, अथवा कुछ रुपया ऐसा प्रदान कर सकती है, जिसे वह उद्योग-धन्धे वालों से वापिस न ले और अपने इस खर्च को उद्योग-धन्धे की सहायतार्थ किया हुआ खर्च समझे।

जब सरकारी आर्थिक सहायता सुदीर्घ तथा अनिश्चित काल के लिये दी जाती है, तो उससे एक बहुत बड़ी हानि यह होती है कि समाज में एक ऐसा दल पैदा हो जाता है जिसका उसमें विशेष स्वार्थ होता है। राज्य के किसी कार्य से ऐसी दल-बन्दी होना ठीक नहीं है। अस्तु, अधिकतर दशाओं में परिमित समय तक सहायता देने से ही फल सिद्ध हो जाता है।

सरकारी सहायता का एक रूप यह भी हो सकता है कि सरकार कुछ मशीनें रखे, और उन्हें इस्तेमाल के लिये उत्पादकों को निर्धारित किराये पर दे, तथा ऐसा नियम कर दे कि अमुक अवधि तक किराया चुकाने के बाद वे मशीनें उत्पादकों की ही हो जायँ। सरकार अपने कृषि-विभाग तथा उद्योग-विभाग द्वारा भी उत्पादन में बहुत सहायक हो सकती है। इन विभागों की ओर से कुछ विशेषज्ञ ऐसे रह सकते हैं, जो जनता के कच्चे या तैयार माल की उत्पत्ति सम्बन्धी विविध प्रश्नों का उत्तर दें, और उनकी शंकाओं का समाधान करें, और विविध अनुभवों और प्रयोगों के फल से उन्हें सूचित करें।

इस प्रकार उत्पादन कार्य में सरकार की प्रत्यक्ष सहायता के देश कालानुसार विविध भेद हो सकते हैं।

परोक्ष सरकारी सहायता—अब सरकार की ओर से उद्योग धन्धों को मिलने वाली परोक्ष सहायता का विचार करते हैं। जब कोई आदमी कोई नयी चीज़ तैयार करता है, तो वह कुछ फीस देकर उसे क़ानून द्वारा पेटन्ट करा सकता है। फिर,

किसी अन्य व्यक्ति का निर्धारित समय तक वैसी चीज़ बनाना क़ानून से निषिद्ध हो जाता है। इस प्रकार आविष्कर्ता को अपने आविष्कार का पूर्ण लाभ उठाने का अवसर मिलता है। इसी प्रकार कोई व्यक्ति अपने लेख, कविता, चित्र या पुस्तक आदि किसी भी नवीन कृति का मुद्रणाधिकार सुरक्षित करा कर उस से होने वाला पूर्ण लाभ स्वयं ही उठा सकता है। आविष्कारों या लेखन कार्य सम्बन्धी इस अधिकार से आविष्कारक या लेखक को सरकार से अप्रत्यक्ष रूप में सहायता मिल जाती है। ऐसी सहायता अन्य विषयों में भी मिल सकती है। भारतवर्ष में, सतरहवीं शताब्दी में व्यापार करने का अधिकार, इंगलैंड नरेश की ओर से, एक मात्र ईस्ट इंडया कम्पनी को होने से, उसी ने उस व्यापार से पूर्ण लाभ उठाया, उसे दूसरी अंगरेज कम्पनियों से प्रतियोगिता न करनी पड़ी, इससे उसे बड़ी सहायता मिली।

व्यापार संरक्षण नीति—अभी तक तो किसी व्यक्ति या संस्था विशेष को मिलने वाली सहायता के सम्बन्ध में विचार किया गया। व्यापक और विशेष रूप मे प्रचलित परोक्ष सरकारी सहायता का उदाहरण व्यापार सम्बन्धी संरक्षण* नीति है। इस नीति के अनुसार विदेशों से आने वाली वस्तुओं पर कर लगा कर उन्हें इतना मँहगा कर दिया जाता है, जिससे उनकी खरीद न हो, अथवा बहुत कम हो, और इस प्रकार स्वदेशी उद्योग-धन्धों की उन्नति में सहायता मिले।† जब किसी देश का कोई

---

* Protection.

† संरक्षण नीति के विपरीत, दूसरी व्यापार-नीति, मुक्त-द्वार व्यापार नीति कहलाती है। इस नीति को अवलम्बन करने वाली सरकार कर लगाने में स्वदेशी-विदेशी वस्तुओं में कोई भेद-भाव नहीं रखती। वह जैसे अपने यहाँ का माल विदेशों में स्वतंत्रता-पूर्वक आने देती है, वैसे ही

उद्योग-धन्धा शैशव अवस्था में होता है, अथवा उसे किसी औद्योगिक दृष्टि से उन्नत देश से आने वाले, अपेक्षाकृत सस्ते माल से प्रतियोगिता करनी पड़ती है, तो इस नीति के व्यवहार से उसे सहारा मिलता है, देशवासी अपने यहाँ वह माल तैयार करने लगते हैं और कुछ समय बाद, क्रमशः सुधार और उन्नति होने पर वह सस्ता भी पड़ने लगता है।

यह भी कहा जा सकता है कि संरक्षण नीति से देश अपनी विविध आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये स्वावलम्बी हो जाता है, उसे परमुखापेक्षी रहना नहीं पड़ता। परन्तु यह बात पूर्णतया सत्य नहीं है। प्रायः कोई देश आयात की कुछ खास खास वस्तुओं पर ही संरक्षण कर लगाता है, और थोड़ी बहुत विदेशी चीज़ें वहाँ आती ही रहती हैं। इस लिये यह कहना ठीक नहीं कि संरक्षण नीति से कोई देश सर्वथा पूर्ण रूप से स्वावलम्बी हो जाता है। इसके साथ ही जो आदमी संरक्षण करों का इस लिये विरोध करते हैं कि इनसे विविध देशों के अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाग के मार्ग में बाधा उपस्थित होती है, उनका मत भी एकांगी है। ऐसा अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाग भी कहाँ तक उचित है, जिससे कोई देश अपनी आवश्यकता की सब मुख्य मुख्य वस्तुएँ भी तैयार न कर सके।

तथापि संरक्षण-करों के विपक्ष में कुछ बातें विचारणीय हैं।

अन्य देशों का माल अपने यहाँ बे-रोक-टोक आने देती है। यह बात नहीं है, कि वह अपनी आयात पर कभी कर ही नहीं लगाती, किन्तु उसके कर लगाने का उद्देश्य अपनी आय बढ़ाना होता है, न कि आयात को रोककर स्वदेशी उद्योग धन्धों को प्रोत्साहन देना। प्रायः यह नीति उन देशों की सरकारों की होती है, जो औद्योगिक दृष्टि से बहुत उन्नत होते हैं, जिन्हें विदेशी प्रतियोगिता का कुछ भय नहीं होता।

जब कोई देश संरक्षण नीति का व्यापक और वृहत् उपयोग करता है, तो वह कुछ ऐसे उद्योग धन्धों की स्थापना को भी प्रोत्साहन दे देता है, जिनकी वहाँ बहुत सुविधा नहीं होती, और जो इतने लाभकारी नहीं होते, जितने वहाँ अन्य वस्तुओं के धन्धे हो सकते हैं। अनेक बार ऐसा भी होता है कि जब किसी धन्धे को संरक्षण-कर का लाभ एकबार मिल जाता है, तो उसके प्रबन्धक उस हितकर प्रभाव से मुक्त हो जाते हैं, जो प्रतियोगिता का हुआ करता है, और वे विशेष सूझ-बूझ और मितव्ययिता के लिये यथेष्ट रूप से प्रेरित नहीं होते। इस प्रकार जिस धन्धे के लिये पहले यह सोचा जाता है कि कुछ परिमित काल के वास्ते, उस धन्धे की शैशवावस्था के लिये संरक्षण करों की आवश्यकता होगी, वह प्रायः कभी स्वावलम्बी ही नहीं होने पाता, उस का समुचित विकास या उन्नति नहीं होती, उसे चिरकाल तक संरक्षण करों के आश्रय की आवश्यकता बनी रहती है।

इस सम्बन्ध में भारत की व्यापार नीति, और विशेषतया इस की संरक्षण नीति का कुछ उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा। भारतवर्ष अति प्राचीन काल से ईसा की अठारहवीं शताब्दी तक, अपने उद्योग-धन्धों और कला कौशल के लिये विश्व-विख्यात रहा। परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी में इंगलैंड आदि देशों में मशीनों का बहुत प्रचार हो जाने, और भारतवर्ष के उस दिशा में आगे न बढ़ने से यहाँ विदेशी तैयार माल की आयात बढ़ने लग गयी। भारत सरकार ने बाहर से आने वाले माल पर कर न लगाया या बहुत ही कम लगाया, कारण कि वह ब्रिटिश सरकार की इच्छा और आदेश के अनुसार मुक्त-द्वार व्यापार नीति का व्यवहार करती रही। पश्चात् महायुद्ध काल में, तथा उसके बाद, इसमें कुछ परिवर्तन हुआ। इसका एक हेतु यह भी था कि यहाँ के देशी उद्योग-धन्धों को संरक्षण दिया जाय। टैरिफ

बोर्ड की सिफारिश के अनुसार यहाँ क्रमशः लोहे, फौलाद के सामान, कागज़, कपड़े और चीनी को संरक्षण दिया गया। अर्थात् इन वस्तुओं की आयात पर ऐसा कर लगाया गया कि वे यहाँ की बनी उन उन वस्तुओं से सस्ती न रह जायँ, कुछ मँहगी ही रहें, जिससे यहाँ के आदमी उन्हें यहाँ ही बनाने के लिये उत्साहित हों।

जिस प्रकार संरक्षण नीति किसी देश के व्यापार के लिये होती है, उसी प्रकार यह किसी साम्राज्य के व्यापार के लिये हो सकती है। उस दशा में उसे साम्राज्यान्तर्गत रियायत* की नीति कहा जाता है। इसका अभिप्रायः यह रहता है कि उस साम्राज्य के अन्तर्गत जितने देश हैं, वे एक दूसरे की बनायी हुई या उत्पन्न की हुई वस्तुओं पर कुछ कर न लगावें, और यदि लगावें भी तो साम्राज्य से बाहर के देशों की अपेक्षा अत्यन्त ही कम लगावें। इस प्रकार व्यवहार में यह साम्राज्य भर के लिये मुक्त-द्वार व्यापार नीति, और साम्राज्य से बाहर के देशों के वास्ते संरक्षण नीति होती है। कुछ आदमी इसमें आर्थिक के अतिरिक्त राजनैतिक एकता का भी लाभ समझते हैं, परन्तु दूसरों को यह नीति सब बातों का विचार करके लाभदायक प्रतीत नहीं होती। भारतवर्ष में नेता इसका बहुत विरोध करते रहे हैं। परन्तु इसका कारण भारतवर्ष की वर्तमान विशेष परिस्थिति कही जा सकती है। कारण, यह देश औद्योगिक दृष्टि से अवनत है, इंगलैंड आदि देशों से बहुत ही पीछे है, इसे अधिकतर तैयार माल विदेशों से लेना होता है, और यदि उपर्युक्त नीति के अनुसार यह ब्रिटिश साम्राज्य के बाहर के माल पर अधिक कर लगाता है तो यहाँ

* Imperial Preference.

वह माल मँहगा हो जाता है, अर्थात् उस कर का भार यहाँ के उपभोक्ताओं पर पड़ता है, और कुछ दशाओं में उन्हें बहुत अखरता है। इसके साथ ही भारतवर्ष की निर्यात अधिकांश में ज्यूट के तैयार माल तथा अन्य कच्चे माल की होती है, जिसके ग्राहक सभी औद्योगिक देश हैं, साम्राज्यान्तर्गत रियायत नीति से भारतवर्ष को कोई लाभ नहीं होता। इसके विपरीत, जितना माल साम्राज्य में अधिक जायगा, उतने ही परिमाण में भारतवर्ष को निर्यात-कर से होने वाली आय की कमी अधिक भुगतनी पड़ेगी। पुनः इस नीति से, साम्राज्य से बाहर के देशों का भारतवर्ष से विरोध बढ़ता है, और क्योंकि वे यहाँ बहुत सा माल खरीदते हैं, उसमें वे एक अंश तक कमी करके, भारतवर्ष से बदला ले सकते हैं।

किसी देश की सरकार को किस प्रकार की व्यापार-नीति का अवलम्बन करना ठीक है, इस विषय में बहुत मत-भेद है। एक ओर मुक्त-द्वार व्यापार नीति के चरम समर्थक हैं, जो इस नीति के व्यवहार में कोई अपवाद रखना नहीं चाहते। दूसरे सिरे पर संरक्षणवादी हैं, जो प्रत्येक प्रकार के विदेशी माल की आयात के विरुद्ध करों की दीवार खड़ी कर देना चाहते हैं। इन दोनों दलों के बीच में भिन्न भिन्न प्रकार के विचार रखने वाले कई दल हैं। एक दल का कथन है कि मुक्त-द्वार व्यापार नीति, कम से कम उस दशा में अवश्य ही सब देशों के लिये हितकर होगी, जब सब की औद्योगिक उन्नति एक निर्धारित सीमा तक पहुँच जायगी।* परन्तु वे यह स्वीकार करते हैं कि संरक्षण करने वाले विविध प्रतिद्वन्द्वियों

---

* ऐसा समय आने की कल्पना नहीं की जा सकती, जब सब देश औद्योगिक दृष्टि से समान उन्नत हों; अब औद्योगिक और अन-औद्योगिक

के मध्य में एक मुक्त द्वार व्यापार करने वाले देश को हानि उठानी पड़ेगी। कुछ लोग 'जैसे को तैसा' की नीति के पक्ष में हैं। उनका मत है कि जो देश हमारे माल के विरुद्ध संरक्षण कर लगाता है, उसके माल की आयात हमें भी अपने यहाँ रोक देनी चाहिये, एवं जिस देश से हमें व्यापार करने की जितनी अधिक आवश्यकता है, उस देश को उतनी ही अधिक सुविधाएँ और रियायतें दी जानी चाहिये।

वास्तव में व्यापार नीति के सम्बन्ध में कोई ऐसी एक बात नहीं कही जा सकती, जो प्रत्येक प्रकार के देश काल के अनुकूल हो। इंगलैंड, जर्मनी आदि जो देश गत महायुद्ध के पहले मुक्त-द्वार व्यापार नीति के चरम समर्थक थे, वे आरम्भ में (जब वे औद्योगिक दृष्टि से अवनत थे), घोर संरक्षणवादी थे। जब उन्होंने काफी औद्योगिक उन्नति कर ली, और उन्हें दूसरों की प्रतियोगिता का भय न रहा, तब उन्होंने अपना स्वर बदल दिया। परन्तु, उसमें भी वे पूर्णतः दृढ़ न रहे। महायुद्ध के समय से उन्होंने पुनः संरक्षण नीति की शरण ली। अस्तु, प्रत्येक देश की सरकार, परिस्थिति की स्वयं ही सम्यग् जाँच करके अनुकूल नीति निर्धारित, और समय समय पर संशोधित कर सकती हैं।

सरकार द्वारा उत्पत्ति ; कुछ विशेष उद्योग धंधे— सरकारी सहायता के मुख्य मुख्य भेदों का विचार कर चुकने पर अब हम सरकार द्वारा की जाने वाले उत्पत्ति का विचार करते हैं। कुछ उद्योग धन्धे ऐसे होते हैं कि उनका केन्द्रीभूत

का अन्तर है, तो भविष्य में बहुत औद्योगिक और कम औद्योगिक का अन्तर रहने वाला है।

प्रबन्ध करने से अधिक मितव्ययिता हो सकती है, यदि ये काम व्यक्तियों के एकाधिकार में रहें तो उन्हें अच्छी तरह तथा मितव्ययिता-पूर्वक कराने के लिये उनका नियंत्रण करना बहुत आवश्यक हो जाता है। इनके यथेष्ट नियंत्रण की कठिनाई का अनुभव करके बहुत से देशों में डाक, तार और रेल आदि का कार्य सरकार द्वारा होता है। कुछ देशों में रेलों का प्रबन्ध कम्पनियों द्वारा होता है, परन्तु सरकार उस पर नियंत्रण करती है। प्रायः आदमी जब व्यक्तिगत रूप से उत्पादन कार्य करते हैं तो वे भावी नागरिकों के हित की ओर वैसा ध्यान नहीं देते, जैसा जब कि वे जनता के प्रतिनिधि बन कर, सामुहिक रूप से कार्य करते हैं। इसलिये ऐसा विचार किया जाता है कि जब दूरवर्ती हित का प्रश्न हो, तो सरकार द्वारा उत्पादन कार्य होना अच्छा है। इसका उदाहरण जंगल की रक्षा तथा समुद्रतट को टूटने से रोकने का कार्य है।

बहुधा जब किसी देश में रेलों का कार्य आरम्भिक अवस्था में होता है, और उसकी गति तीव्र करनी होती है, तो या तो सरकार स्वयं इस कार्य को हाथ में ले लेती है, या कम्पनियों को काफी सहायता देती है। कुछ कार्य ऐसे होते हैं कि व्यक्तियों के हाथ में रहने से, उनका खर्च नहीं निकलता, उनसे काफी आय नहीं होती, तथापि जनता के हित की दृष्टि से उनका किया जाना आवश्यक होता है। सरकार के लिये यह ज़रूरी है इन कार्यों को वह या तो स्वयं करे, या उनके किये जाने में लोगों को सहायता दे। इस तरह के उदाहरण कुछ पुल, तथा सड़कें आदि हैं। अनेक दशाओं में इनका कोई शुल्क वसूल नहीं किया जाता, कारण कि ऐसा करने से प्राप्ति बहुत कम होती है, तथा सर्व साधारण को बड़ी असुविधा हो जाती है। इसके अतिरिक्त लोगों को इनका प्रयोग निश्शुल्क करने देने से, इनका कुछ

दुरुपयोग भी नहीं होता, जैसा कि मोटर आदि के निश्शुल्क कर देने से होना सम्भव है।

कुछ कार्य ऐसे होते हैं, जो विशेषतया आर्थिक नहीं होते, और उनको किये जाने की बात पूर्णतया व्यक्तियों के भरोसे नहीं छोड़ी जा सकती। सरकार या तो उनके लिये सहायता देती है, या उन्हें नियंत्रित करती है, अथवा कुछ दशाओं में स्वयं ही करती है। इसका उदाहरण अस्त्र शस्त्रों का निर्माण है।

कभी कभी सरकार आय की दृष्टि से भी किसी वस्तु की उत्पत्ति का कार्य करती है। उदाहरणार्थ भारतवर्ष में खर्च होने वाले नमक का लगभग आधा भाग सरकार स्वयं उत्पन्न कराती है (शेष पर उसका नियंत्रण है); इसमें मुख्य हेतु यही है कि दूसरे आदमी इसे बना कर लाभ न उठावें, जिससे सरकारी आय की हानि हो।

आपत् काल में सरकार द्वारा उत्पत्ति—ऊपर जो बातें कही गयी हैं, वे साधारण अवस्था के सम्बन्ध में हैं। अब युद्ध आदि विशेष स्थिति के सम्बन्ध में विचार करते हैं। युद्ध के समय सरकार का उत्पत्ति सम्बन्धी कार्य बहुत बढ़ जाता है। सरकार सैनिकों एवं सर्व साधारण के भरण-पोषण आदि की ओर विशेष ध्यान देने को बाध्य होती है। उस समय विदेशों से माल आना बन्द या कम हो जाता है, और विविध वस्तुओं की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये स्वदेश में प्रतिद्वन्द्विता या प्रतियोगिता रहने देना ठीक नहीं होता। कौन सी वस्तु को, किस सीमा तक निर्यात की जाय, जिससे देश में वह कम या बहुत मंहगी न हो जाय, यह भी गम्भीरता-पूर्वक विचार किया जाता है। इसलिये निर्यात प्रायः बन्द कर दी जाती है, या विदेशों का रुपया चुकाने आदि के हेतु, केवल परिमित मात्रा में उसकी अनुमति दी जाती है। इसी प्रकार आयात भी बहुत

आवश्यक पदार्थों की ही की जाती है। इस बात का भी प्रयत्न किया जाता है कि उत्पन्न वस्तुओं का जनता में सम्यग् रीति से वितरण हो, कोई आदमी बहुत अधिक खर्च न करे। इस दृष्टि से कभी कभी तो प्रत्येक व्यक्ति या परिवार को एक निश्चित परिमाण से अधिक की वस्तुएँ नहीं दी जातीं।

भोजनादि के अतिरिक्त सरकार को सैनिक सामग्री अर्थात् शस्त्रास्त्रों आदि के निर्माण की ओर भी बहुत ध्यान देना होता है। यदि सरकार इस कार्य को न करे तो सम्भव है यह काम धनाभाव के कारण न हो सके, अथवा बहुत विलम्ब से, या बहुत ही मन्द गति से किया जाय। सरकार इस कार्य की ओर इतना ध्यान देती है कि जनता सम्बन्धी साधारण माँग को दूसरे दर्जे का समझा जाता है। जितने आदमी युद्ध के लिये आवश्यक समझे जाते हैं, उन्हें यथा-सम्भव उसी कार्य में लगा दिया जाता है। इससे उत्पादन कार्य में ऐसे आदमियों की काफी संख्या रखनी पड़ती है, जो युद्ध में भाग लेने वालों के लिये ही उत्पत्ति करते हैं।

ये उन बातों के कुछ उदाहरण मात्र हैं, जो सरकार युद्ध काल में करने को बाध्य होती है, और जिन्हें साधारण स्थिति में उसके क्षेत्र से बाहर का समझा जाता है। और, ये असाधारण बातें, युद्ध समाप्त होते ही बन्द नहीं हो जातीं, वरन् उसके बाद भी काफी समय तक बनी रहती हैं। कभी कभी तो महायुद्ध ऐसे बड़े परिमाण में होता है कि संसार का बहुत सा व्यापार बन्द हो जाता है, और युद्ध में प्रत्यक्ष भाग लेने वाले ही नहीं, उनके सहायक तथा सम्बन्धित देशों की आर्थिक व्यवस्था में बड़ी उथल-पुथल मच जाती है, जिसका सुधार कई शताब्दियों तक करना होता है।

सरकार द्वारा समस्त उत्पत्ति; हानि लाभ— कुछ लोगों का मत है, और प्रजातंत्रात्मक भावों की वृद्धि के साथ साथ इस मत का क्रमशः प्रचार और विस्तार होता जा रहा है, कि सरकार न केवल कुछ खास वस्तुओं का उत्पादन करे, वरन् देश भर की जनता की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति उसी के द्वारा हो, और वह न केवल आपत्काल में, वरन् साधारण अवस्था में भी। ऐसा करने से वह फजूलखर्ची न होगी, जो उत्पादन कार्य के पृथक् पृथक् होने की दशा में अनिवार्य है, और वे बुराइयाँ भी न होंगी, जिनके कारण सरकारी नियंत्रण की आवश्यकता हुआ करती है। इस प्रकार जनता सुखी होगी।

इस मत के विपक्ष में यह कहा जाता है कि राजनैतिक क्षेत्र में किसी पद्धति के सफल होने मात्र से, आर्थिक क्षेत्र में भी उसका सफल होना आवश्यक नहीं है। सरकारी कार्यों में एक ढर्रा सा पड़ जाता है, उनमें नयी सूझ-बूझ और प्रेरणा आदि की बात नहीं रहती। पदाधिकारी प्रायः अपने आप को विविध पदों पर सुरक्षित समझते हैं, उनका वेतन, तरक्की या पेन्शन पहले से निर्धारित होती है, उन्हें काम की हानि लाभ की वैसी चिन्ता नहीं होती, जैसी लोगों को व्यक्तिगत कार्य करने की दशा में रहती है। पुनः उनमें कोई नया ढंग इख्तयार करने या बड़ी भारी जोखम उठाने की हिम्मत नहीं होती। वे सोचते हैं कि सम्भव है, हमारी कार्य-पद्धति मतदाताओं या व्यवस्थापकों को पसन्द न आये, और वे हमें पदच्युत कर दें। फलतः उनमें साहस की कमी होती है, जो बड़ी मात्रा की उत्पत्ति की जान है। इसके विपरीत, व्यक्तिगत रूप से उत्पत्ति करने वाले आदमी, चाहे वे साझे की पद्धति से काम करें, या मिश्रित पूँजी की कम्पनी आदि बनाएँ, भली भाँति अनुभव करते हैं कि उनकी

उन्नति और लाभ उनकी कार्य-क्षमता पर निर्भर है, काम में जितना नफा अधिक होगा, उतना ही उन्हें अधिक प्राप्ति होगी। वे सरकारी कर्मचारियों की भाँति निर्धारित घंटों में, निर्धारित काम करने मात्र से संतुष्ट नहीं हो जाते, वरन् जी-जान से काम में तन्मय होते हैं, बड़ी से बड़ी जोखम उठाते हैं, छोटी छोटी बातों में भी खूब किफ़ायत करते हैं। इसके फल-स्वरूप कभी कभी साधारण योग्यता का प्रतीत होने वाला व्यक्ति व्यवसायपति के विलक्षण गुणों का परिचय देता है।

अब से कुछ समय पूर्व यह कहा जाता था कि केवल जर्मनी आदि कुछ इने-गिने देशों में सरकारी उत्पादन कार्य, व्यक्तिगत कार्यों की अपेक्षा बढ़िया और कम खर्च में होते हैं, जहाँ पदाधिकारी प्रायः बहुत कर्तव्य-परायण तथा कार्य-कुशल हैं। इसके विपरीत, संयुक्त राज्य अमरीका और इंगलैंड आदि में सरकारी उत्पादन कार्य अपेक्षाकृत घटिया होते हैं। भारतवर्ष में सरकारी कार्य बहुत घटिया न होने का कारण यह है कि यहाँ व्यक्तियों द्वारा किया जाने वाला कार्य अभी काफी उन्नत दशा में नहीं है।

ऊपर सरकारी कार्यों के अपेक्षाकृत घटिया होने की जो बात कही गयी है, वह सब उद्योग धन्धों के लिये समान रूप से लागू नहीं होती; देश-काल के अनुसार किसी में कम लागू होती है और किसी में ज्यादह। कुछ कामों के लिये तो सरकारी प्रबन्ध ही अच्छा रहता है, और जनता के हित की दृष्टि से आवश्यक भी होता है। जो चीजें स्वयं बिक जायँ, जिनकी मांग खूब हो, और जिनके सम्बन्ध में होने वाली अधिकांश बातें जनता की दृष्टि में आती हों, और इस प्रकार जिनकी त्रुटियाँ या दोष सहज ही दीखायी पड़ जाते हों, उन वस्तुओं का केन्द्रीय या स्थानीय सरकार द्वारा बनाया जाना ठीक माना जाता है। उदाहरणवत् देश में डाक तार और कुछ दशाओं में रेल का

काम, तथा नगरों आदि में पानी, रोशनी, या संचालक शक्ति पहुँचाने का काम।

जैसा पहले कहा गया है लोगों का अब से कुछ वर्ष पहले तक यह विचार था कि सरकार साधारण अवस्था में कुछ इने-गिने, और विशेष प्रकार के उद्योग धन्धों का काम करे; आपत्-कालीन अवस्था में वह अपना क्षेत्र बढ़ा ले। परन्तु इस मत में पिछले दिनों विलक्षण परिवर्तन हो गया है। विशेषतया रूस सरकार ने अपने यहाँ शान्ति-काल में सभी प्रकार की उत्पत्ति करके, और उसमें सफलता प्राप्त करके, लोगों को चकित कर दिया है। लोगों को भाँति भाँति के सन्देह थे, विशेषतः पूँजीवादी व्यक्तियों और सरकारों ने तो रूस की विफलता की घोषणा करने और अन्य देशों को इस विषय में सावधान करने में कुछ भी न उठा रखा था। परन्तु अब रूस सरकार के प्रचार कार्य से नहीं, उसकी कृति से, उसके प्रथम पंचवर्षीय योजना की अद्भुत सफलता से, और दूसरी योजना के अनुसार उत्साह-पूर्वक कार्य आरम्भ करने से, उक्त व्यक्तियों और सरकारों के भ्रम दूर हो गये हैं, और होते जा रहे हैं। हाँ, स्मरण रहे रूस की इस सफलता का श्रेय बहुत कुछ इस बात को है कि वहाँ मजदूरों अर्थात् श्रमजीवियों की सरकार है, जिसमें पूँजीपतियों के लिये कोई रियायत नहीं, उलटा उनके अधिकार और कम हैं, एक प्रकार से रूस की सरकार में पूँजीपतियों का कोई स्थान ही नहीं है। सरकार द्वारा उत्पत्ति होना जन साधारण के लिये तभी कल्याणकारी हो सकती है, जब कि सरकार का संचालन-सूत्र पूँजीपतियों के हाथ में न रह कर विशेषतया श्रमजीवी वर्ग के हाथ में हो।

इक्कीसवाँ अध्याय

उत्पत्ति का आदर्श

—:*:—

प्राक्कथन—इस पुस्तक के पहले अध्याय में इस बात का विचार किया जा चुका है कि प्रत्येक व्यक्ति तथा देश या समाज के लिये धन बहुत आवश्यक और उपयोगी होता है। उसके बाद के अध्यायों में उत्पत्ति के विविध साधनों का विचार किया गया है, और यह भी बतलाया गया है कि उनमें से प्रत्येक की उपयोगिता किस प्रकार बढ़ायी जा सकती है। आशा है, इस ज्ञान को प्राप्त करने से उत्पत्ति की मात्रा अधिक से अधिक करने में सहायता मिलेगी। परन्तु जैसा कि पहले कहा गया है, धनोत्पत्ति का उद्देश्य सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृति है। यह उद्देश्य सिद्ध होने के लिये यही आवश्यक नहीं है कि धन का सदुपयोग हो, वरन् इस बात की अत्यन्त आवश्यकता है कि हमारे सामने उत्पत्ति का सुविचार-युक्त और निश्चित आदर्श हो। बहुधा कार्य का आदर्श भुला देने से, उद्देश्य-सिद्धि में बाधा उपस्थित हो जाती है। अतः हमें जान लेना चाहिये कि उत्पत्ति का आदर्श क्या होना चाहिये। इस लिये पहले इस बात का विचार करते हैं कि प्रायः भिन्न भिन्न आदमियों का उत्पत्ति सम्बन्धी ध्येय क्या क्या हुआ करता है।

उत्पत्ति सम्बन्धी ध्येय—मोटे हिसाब से उत्पत्ति में उत्पादक का ध्येय, निम्न लिखित तीन ध्येयों में से कोई एक हो सकता है:—

(१) उत्पत्ति मेरे लिये हो, उससे मुझे लाभ होना चाहिये, दूसरों की उससे चाहे जो हानि हो, उसकी मुझे चिन्ता नहीं। इसे स्वार्थवाद या पूँजीवाद कह सकते हैं।

(२) उत्पत्ति दूसरों के लिये, मानव समाज के लिये हो, उससे दूसरों का हित साधन हो, उसके वास्ते, मुझे जो कुछ कष्ट-सहन या त्याग करना पड़े, वह सहर्ष स्वीकार है। इसे परमार्थवाद कह सकते हैं।

(३) उत्पत्ति मेरे लिये एवं दूसरों के लिये हो। मेरे उत्पादन कार्य से किसी को कुछ हानि या कष्ट न हो, उत्पादन धर्म और नीति संगत हो। यह स्वार्थ और परमार्थ का मध्यम मार्ग है।

अब हम इन तीनों के विषय में क्रमशः विचार करते हैं, और यह बतलाते हैं कि इनमें से प्रत्येक में क्या गुण दोष हैं।

स्वार्थवाद या पूँजीवाद—प्रायः प्रत्येक देश में कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं, जो धन कमाना ही अपना ध्येय बना लेते हैं। वे किसी भी साधन से, ईमानदारी से अथवा बेईमानी से, जायज तरीके से, अथवा नाजायज़ तरीके से, सदैव धन प्राप्त करने की धुन में लगे रहते हैं। इस स्वार्थवाद का चरम स्वरूप आज कल के पूँजीवादियों में दिखायी देता है। इसके मुख्य तीन लक्षण होते हैं :—

(क) पूँजीपति उत्पादन के सब साधनों के स्वामी होते हैं; मजदूरों और किसानों का पूँजी तथा कल-कारखानों और भूमि पर कुछ अधिकार नहीं रहता। मज़दूर किसी भी समय काम करने से रोके जा सकते हैं। इस प्रकार पूँजीवादी देशों में असंख्य बेकारों की समस्या प्रतिदिन बनी रहती है। समाज मुख्यतया दो वर्गों में विभक्त होता है, एक वर्ग में मुट्ठी भर करोड़पति या लखपति और दूसरे वर्ग में लाखों निर्धन और अनेक नर-कंकाल होते हैं।

(ख) पूँजीवादी अपने नफ़े के लिये उत्पादन करते हैं। इस लिये अनेक बार हज़ारों और लाखों आदमियों के भूखे नंगे रहते हुए भी वस्तुओं का भाव बढ़ाने के लिये भोजन वस्त्र की विपुल सामग्री समुद्र या अग्नि की भेंट कर दी जाती है, अथवा देश की बहुत सी शक्ति विलासिता की, या युद्धोपयोगी वस्तुएँ बनाने में लगायी जाती है, जिससे धन जन की अपार क्षति होती है।

(ग) श्रमियों को कम से कम मजदूरी दी जाती है, इससे उनका रहन-सहन का दर्जा गिरता जाता है, उनके विकास का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है, और उनकी दशा बहुत खराब हो जाती है।

पूंजीवाद प्रथा में धन तो पैदा होता है, परन्तु जनता को अभीष्ट सुख की प्राप्ति नहीं होती। जैसा कि पहले कहा गया है, जनता दो भागों में विभक्त हो जाती है। इन दोनों में परस्पर कलह और ईर्षा रहती है। पूँजीपतियों को अधिकाधिक धन की तृष्णा लगी रहती है, अथवा उन्हें यह चिन्ता सताती हैं, कि इस दिन दूनी, रात चौगुनी बढ़ने वाली सम्पत्ति का क्या किया जाय। अनजीवी वर्ग अपने जीवन-निर्वाह की आवश्यकताओं के अभाव से होने वाले दुःख का अनुभव करता है, और अपनी आहों से पूँजीपतियों का और पूँजीवाद के युग का अन्त करना चाहता है। इससे स्वयं पूँजीपतियों की भी अपार हानि होती है। उन्हें चैन या शान्ति नहीं मिलती। पुनः यदि वे अपने लिये सब प्रकार से स्वास्थ्यप्रद भवन भी बनवा लें, तो जब कि उनके चहुँ ओर निर्धन अनजीवियों का निवास है, जो कि तंग और गन्दी झोपड़ियों में रहने, घटिया भोजन खाने और मैले वस्त्र पहनने से आये दिन बीमार रहते हैं, तो विविध रोगों के कीटाणुओं से परिपूर्ण ऐसे वातावरण में पूंजीपति भी स्वस्थ और निरोग नहीं

रह सकते। यही कारण है कि कुछ पूँजीपति, स्वयं अपने स्वार्थ की दृष्टि से भी श्रमजीवियों के लिये स्वास्थ्य-नियमों के अनुसार अच्छे मकान बनवाते हैं, तथा उनके खान पान आदि की भी व्यवस्था करने की ओर ध्यान देते हैं। तथापि जैसा कि ऊपर कहा गया है, अधिकांश पूँजीपतियों का दृष्टि-कोण स्वार्थमय रहने के कारण वे उक्त कार्य बड़ी कृपणता से करते हैं। वे मज़दूरों का आखिर मज़दूर ही रखना चाहते हैं, उन्हें अपनी बराबरी का तो बनाने से रहे। निदान, पूँजीवाद में दो श्रेणी रहनी अनिवार्य हैं, पूँजीपति और मज़दूर अथवा मालिक और नौकर। और, यह भेद समाज के लिये कभी हितकर नहीं होता।

संसार की रचना इस प्रकार की है कि यदि कोई व्यक्ति या वर्ग चाहे कि सर्वत्र नरक-यातनाएँ बनी रहें, और केवल उसके लिए स्वर्गीय सुख उपलब्ध हो तो यह हो नहीं सकता। औरों के, कष्ट में रहते हुए हमें अभीष्ट सुख नहीं मिल सकता। हम सुख चाहते हैं तो हमें दूसरों के लिये भी त्याग और उदारता-पूर्वक सुख की सृष्टि करनी चाहिये।

परमार्थवाद—उत्पत्ति के ध्येय की एक सीमा पूँजीवाद है, तो दूसरी सीमा परमार्थवाद है। इसके कई दर्जे या भेद हैं। (१) कुछ आदमी वस्तुओं की उत्पत्ति में ही परमार्थ या परोपकार का भाव रखते हैं, (२) कुछ अपनी सेवाएँ त्याग भाव से करते हैं, (३) कुछ अपने उपार्जित धन को दूसरों के हितार्थ लगाते हैं। कुछ उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जायगा।

कुछ आदमी या संस्थाएँ बहुत रुपया लगाकर गीता, रामायण, बाइबल आदि धार्मिक पुस्तकों की हज़ारों लाखों प्रति छपाते हैं, या कोई धार्मिक पत्र पत्रिका प्रकाशित करते है, और उसे बिना मूल्य या नाम मात्र के मूल्य पर सर्व साधारण में वितरण कराते हैं। कितने ही धनी मानी सज्जन धर्मशाला, कुआ, तालाब,

पाठशाला, अनाथालय, औषधालय, प्रसूति गृह, विधवाश्रम आदि बनवाते हैं तथा उनके प्रबन्ध के लिए रुपया इस लिए लगाते हैं कि उससे दूसरों का हित हो। इनमें से बहुत से आदमी ऐसे होते हैं, जो कुछ उत्पत्ति स्वयं अपने लिये ही करते हैं, और इस प्रकार उन्हें अपने खान पान या रहन सहन में विशेष कष्ट या असुविधा नहीं होती। तथापि कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं, जो अपनी उत्पत्ति का प्रधान लक्ष्य परोपकार रखते हैं। अनेक साधु महात्मा अपने लिये कुछ दान दक्षिणा ग्रहण नहीं करते, रूखे-सूखे भोजन और नाम-मात्र के वस्त्र से संतोष करते हैं, परन्तु इस बात का उद्योग करते रहते हैं कि स्थान स्थान पर कुएँ, बावड़ी, बाग़, प्याऊ या धर्मशाला आदि बन जायँ, जिनसे सर्व साधारण को लाभ हो।

परमार्थ की दृष्टि से सेवा करने वालों की थोड़ी-बहुत संख्या सभी देशों में होती है। भारतवर्ष में कितने ही आदमी अपना बहु-मूल्य समय राष्ट्रीय कार्य, साहित्य सेवा, या शिक्षा प्रचार आदि में लगाते हैं, जिसका प्रतिफल वे सामान्य भोजन वस्त्र के अतिरिक्त और कुछ नहीं लेते। यदि ये चाहें तो अपनी शक्ति और योग्यता का उपयोग ऐसे उत्पादन कार्य में कर सकते हैं, जिससे इन्हें प्रति मास सैकड़ों रुपयों की आमदनी हो, परन्तु ये उस आमदनी को त्याग कर अपनी सेवा देश और समाज हित लगाने का ही ध्येय रखते हैं।

कितने ही आदमी अपना उपार्जित धन दूसरों को भोगने देते हैं, तदुपरान्त यदि कुछ शेष रहे, तो जो कुछ भी उन्हें मिलता है, उसी में वे संतोष कर लेते हैं; और यदि कुछ शेष न रहे तो भी उन्हें कुछ चिन्ता नहीं होती। भारतीय इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं, कि एक व्यक्ति के पास केवल उसकी ही आवश्यकता की पूर्ति के लिये भोजन था,

पर अनायास कोई अतिथि आ गया, वह भोजन उसे दे दिया गया, गृह-पति स्वयं भूखा रह गया और स्वेच्छानुसार भूखा रहने में ही उसने परमानन्द का अनुभव किया। कितने ही महान् आत्माओं ने घोर शीत काल में अपना एक मात्र वस्त्र उतार कर दूसरे को दे दिया, जिससे उसे ठंड न लगे। ये महापुरुष दूसरों की आवश्यकताओं को अपनी आवश्यकताओं की अपेक्षा अधिक महत्व देते हैं। इनकी नीति 'आत्मवत् सर्व भूतेषु' अथवा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' होती है। समस्त विश्व ही इनका परिवार होता है।*

मध्यम मार्ग—सर्व साधारण इन महानुभावों को श्रद्धांजलि चढ़ाता है, और इनका गुण-गान करता है। तथापि उनका मार्ग कुछ थोड़े से व्यक्तियों का ही होता है, और हो सकता है; साधारण आदमी उनका अनुकरण नहीं कर सकते, ऐसा करना उनके लिये व्यावहारिक नहीं है। सर्व साधारण के लिये उत्पत्ति का ध्येय न परम स्वार्थवाद होता है, और न विशुद्ध परमार्थवाद ही। उनका लक्ष्य 'जीओ, और जीने दो' का होता है। यह

---

* कुछ महानुभाव दूसरों के लिये अपने स्वार्थ का क्या, अपने शरीर तक का सहर्ष बलिदान करने को तत्पर रहते हैं। महाराजा दिलीप ने गाय की रक्षा के लिये, और महात्मा शिवि ने कबूतर की रक्षा के लिये, अपने प्राणों की भेंट चढ़ाने का साहस किया था गौतम बुद्ध ने दूसरों के दुःख दूर करने के मार्ग की खोज करने के लिये राज-पाट के सुखों को लात मार कर वर्षों जंगल की खाक छानी थी, और अपने तन बदन को विविध व्रत उपवास आदि से सुखा डाला था। मध्य युग के अनेक सन्त महात्माओं ने ऐसा ही जीवन व्यतीत करने का आदर्श रखा है। इस समय भी महात्मा गान्धी जैसे उदाहरण सब के सामने हैं।

बतलाता है कि हमें आत्म-रक्षा करनी चाहिये, अपना भरण-पोषण करना चाहिये, पर दूसरों को कष्ट देकर, या दूसरों का शोषण करके नहीं, वरन् उनका भी हित-साधन करते हुए ही। भारत का, विशेषतः हिन्दुओं का, धनोत्पत्ति सम्बन्धी आदर्श यही है।

उत्पत्ति का आदर्श—उत्पत्ति के तीन ध्येय ऊपर बताए गये हैं, इनमें पूँजीवाद तो आदर्श के योग्य है ही नहीं; उससे कितना अनर्थ होता है, यह पहले बताया जा चुका है। परमार्थ-वाद से संसार का बड़ा कल्याण हो सकता है, उससे सब कष्टों का अन्त होकर जन समाज के लिये स्वर्गीय सुख की प्राप्ति हो सकती है। इस लिए वह आदर्श के सर्वथा योग्य है। यही एक ऐसा आदर्श है जिसे विचारवान और विवेकशील व्यक्ति प्राप्त करने के इच्छुक हों। कुछ आदमियों को इस आदर्श की प्राप्ति में थोड़ी-बहुत सफलता भी मिल सकती है। परन्तु यदि हम यह समझें कि इसे सर्व साधारण अपने जीवन में पूर्णतया परिणत कर सकेंगे तो यह दुराशा मात्र है, स्वाभाविक नहीं है। अतः सर्व साधारण के लिये परमार्थवाद व्यावहारिक न होने से, उसे मध्यम मार्ग ही ग्रहण करना चाहिये, पूँजीवादी बनने का तो किसी भी दशा में विचार ही न किया जाना चाहिये। रूस में जो उत्पत्ति की जाती है, उसका ध्येय यही है कि उससे किसी विशेष व्यक्ति या व्यक्ति-समूह का लाभ न होकर समस्त समाज का ही लाभ हो। क्योंकि वहाँ सभी व्यक्ति समाज हित की दृष्टि से उत्पादन में भाग लेते हैं, इसलिये वहाँ किसी व्यक्ति या व्यक्ति-समूह के मुनाफे का प्रश्न ही नहीं रहता। वहाँ 'प्रत्येक सब के लिये, और सब प्रत्येक के लिये' का भाव है।

हिन्दुओं के धर्म ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से यह आदेश किया गया है कि प्रत्येक मनुष्य धन को धर्म-पूर्वक ही प्राप्त करे, उसे इस

बात का सदैव ध्यान रखना चाहिये कि उसका धन-प्राप्ति का कोई तरीका धर्म-विरुद्ध न हो। हमारे धर्म शास्त्र कहते हैं कि बेईमानी से अथवा अधर्म से प्राप्त किये धन से कभी सुख और शांति प्राप्त नहीं होती— वह धन मनुष्य को अन्त में पशु बना देता है। धन में अपार शक्ति है। उस शक्ति का उपयोग अपनी और समाज की दशा सुधारने में किया जा सकता है। उसी का उपयोग अपनी और समाज की दशा बिगाड़ने में भी किया जा सकता है। अधर्म से प्राप्त धन द्वारा देश और समाज के हित की बहुत कम संभावना होती है। यदि देश में प्रत्येक व्यक्ति धन कमाते समय उसके तरीके धर्म के अनुसार ही बनाये रखने का हमेशा ध्यान रखे, कभी भी अधर्म से धन प्राप्त करने का प्रयत्न न करे तो संसार के भिन्न भिन्न देशों में जो आर्थिक संघर्ष दिखायी देता है। वह मिट जाय, सब देश पूँजीवाद, भौतिकवाद इत्यादि के हानिकारक परिणामों से बच जायँ और संसार में सुख और शांति की वृद्धि हो।

उपसंहार—अस्तु, प्रत्येक व्यक्ति को धन इस प्रकार से प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये जिससे किसी दूसरे व्यक्ति की, या अपने देश की हानि न होने पावे। यदि कोई व्यक्ति किसी दूसरे का माल चुराता है तो सरकार उसे दंड देती है। परन्तु कई कार्य ऐसे भी हैं जिनके लिये सरकार दंड नहीं देती, तथापि जिनसे दूसरों का तथा देश का नुकसान होता है। यदि कोई पूँजीपति अपने कारखाने में मज़दूरों से अधिक मुनाफे की लालच से अत्यधिक काम लेकर उनको बहुत कम मज़दूरी देता है और उनके स्वास्थ्य की परवाह नहीं करता तो वह देश को और समाज को हानि पहुँचाता है। यदि कोई महाजन कर्जदारों से अत्यधिक सूद लेता है या यदि कोई ज़मीदार अपने किसानों से अत्यधिक लगान या बेगार लेता है तो वह देश और समाज को हानि पहुँचाता

है। यदि कोई वकील अपने मुवक्किलों को उचित सलाह न देकर अपनी आमदनी की लालच से उनको व्यर्थ की मुकदमेबाजी में फंसाता है तो वह समाज और देश को हानि पहुँचाता है। इस प्रकार के कार्य वे ही लोग करते हैं जो धन को ही अपना ध्येय बना लेते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि धन केवल सुख का साधन मात्र है और जब धन प्राप्त करने के प्रयत्नों से समाज या देश का दुःख बढ़ता है, तो यह स्पष्ट है कि उस धन की उत्पत्ति आदर्श-विरुद्ध है। धनोत्पत्ति के ऐसे हानिकारक उपायों को अमल में न लाया जाना चाहिये। जब तक मनुष्य धर्म अधर्म का विचार कर ऐसे उपायों को स्वयं ही न छोड़ दे, सरकार को उन्हें दंड द्वारा रोकने का प्रयत्न करना चाहिये। इस पुस्तक में यथा-स्थान इन बातों का विवेचन किया गया है। आशा है, पाठक उससे यथेष्ट लाभ उठाएँगे, धनोत्पादन में धर्म की विस्मृति न करेंगे, अर्थात् उत्पत्ति का आदर्श केवल अपना स्वार्थ-साधन न रख कर, उसके साथ ही, देश और समाज का हित-साधन, रखेंगे।

भारतवर्षीय हिन्दी-अर्थशास्त्र-परिषद

(सन् १९२३ ई० में संस्थापित)

सभापति—

श्रीयुत पंडित दयाशंकर दुबे, एम०-एल्-एल्० बी०, अर्थशास्त्र-अध्यापक, प्रयाग-विश्वविद्यालय, प्रयाग।

मंत्री—

(१) श्रीयुत जयदेवप्रसादजी गुप्त, एम्० ए०, बी० काम०, एस० एम० कालेज, चंदौसी।

(२) साहित्य-रत्न पंडित उदयनारायण जी त्रिपाठी एम्० ए०, अध्यापक, दारागंज हाईस्कूल, दारागंज, प्रयाग।

इस परिषद् का उद्देश्य है, जनता में हिन्दी द्वारा अर्थशास्त्र का ज्ञान फैलाना और उसका साहित्य बढ़ाना। कोई भी सज्जन १) प्रवेश शुल्क देकर इस परिषद् का सदस्य हो सकता है। प्रत्येक सदस्य को परिषद् द्वारा प्रकाशित या संपादित पुस्तकें पौने मूल्य पर दी जाती हैं।

परिषद् की संपादन-समिति द्वारा सम्पादित होकर निम्न-लिखित पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं:—

(१) भारतीय अर्थशास्त्र (दो भाग)। (गंगा ग्रन्थागार, लखनऊ)

(२) भारतीय राजस्व (भारतीय ग्रंथमाला, वृन्दावन)

(३) विदेशी विनिमय (गंगा ग्रंथागार, लखनऊ)

(४) अर्थशास्त्र शब्दावली (भारतीय ग्रंथमाला, वृन्दावन)

(५) कौटिल्य के आर्थिक विचार। (" ")

(६) संपत्ति का उपभोग (साहित्य-मन्दिर, दारागंज, प्रयाग)

(७) भारतीय बैंकिंग (रामदयाल अग्रवाल, प्रयाग)

(८) हिन्दी में अर्थशास्त्र और राजनीति साहित्य (भारतीय ग्रंथमाला, वृन्दावन)

(९) धन की उत्पत्ति (लाला रामनारायण लाल, प्रयाग)

इनके अतिरिक्त, निम्नलिखित पुस्तकों का सम्पादन हो रहा है :—

(१०) मूल्य-विज्ञान।

(११) धन का वितरण

(१२) अङ्क शास्त्र।

(१३) अर्थशास्त्र (पाँच भाग)

हिन्दी में अर्थशास्त्र सम्बन्धी साहित्य की कितनी कमी है, यह किसी साहित्य-प्रेमी सज्जन से छिपा नहीं है। देश के उत्थान के लिये इस साहित्य की शीघ्र वृद्धि होना अत्यन्त आवश्यक है। प्रत्येक देश-प्रेमी तथा हिन्दी-प्रेमी सज्जन से हमारी प्रार्थना है कि वह इस परिषद् का सदस्य होकर हम लोगों को सहायता देने की कृपा करें। जिन महाशयों ने इस विषय पर कोई लेख या पुस्तक लिखी हो, वे उसे सभापति के पास भेजने की कृपा करें। लेख या पुस्तक परिषद् द्वारा स्वीकृत होने पर, सम्पादन-समिति द्वारा बिना मूल्य सम्पादित की जाती है। आर्थिक कठिनाइयों के कारण परिषद् अभी तक कोई पुस्तक प्रकाशित नहीं कर पाई है, परन्तु वह प्रत्येक लेख या पुस्तक को सुयोग्य प्रकाशक द्वारा प्रकाशित कराने का पूर्ण प्रयत्न करती है। जो सज्जन अर्थशास्त्र सम्बन्धी किसी भी विषय पर लेख या पुस्तक लिखने में किसी प्रकार की सहायता चाहते हों, वे नीचे लिखे पते से पत्र-व्यवहार करें।

दारागंज, प्रयाग } दयाशंकर दुबे, एम्० ए

सरल भारतीय शासन

(हिन्दी साहित्य सम्मेलन, तथा महिला विद्यापीठ, प्रयाग की परीक्षाओं के लिये स्वीकृत)

पृष्ठ संख्या १३२] दूसरा संस्करण [मूल्य ||)

लेखक
भारतीय शासन, नागरिक शिक्षा, नागरिक शास्त्र, और
भारतीय राज्य शासन, आदि के रचयिता
भगवानदास केला

कुछ विशेषताएँ

१—यह पुस्तक सन् १९३५ ई० के विधान के अनुसार संशोधित है।

२—यह पुस्तक सरल भाषा में लिखी गयी है, थोड़ी योग्यता वाले भी इसे समझ सकते हैं।

३—इसमें शासन पद्धति सम्बन्धी मुख्य मुख्य बातें ही दी गयी हैं, इस से पाठक के मस्तिष्क पर अनावश्यक भार नहीं पड़ता।

४—जो पाठक श्री केला जी की 'भारतीय शासन' पुस्तक को अच्छी तरह नहीं समझ सकते, वे भी इससे लाभ उठा सकते हैं।

५—इस पुस्तक के अन्त में पारिभाषिक शब्दों की सूची दी गयी है, यह पाठकों के लिये बहुत उपयोगी है।

भारतीय राज्य शासन

पृष्ठ संख्या १८०] [मूल्य ।।।)

(मध्यप्रान्त के हाई स्कूलों की दसवीं और ग्यारहवीं श्रेणियों के लिये स्वीकृत)

लेखक

भारतीय शासन, भारतीय जागृति, नागरिक शिक्षा, और सरल भारतीय शासन, आदि के रचयिता

भगवानदास केला

इसमें कम्पनी के समय से लेकर सन् १९३५ ई० तक की राजनैतिक घटनाओं का, तथा भारतीय शासन पद्धति का सरल भाषा में वर्णन किया गया है। इसमें २३ विषय हैं:—१—कम्पनी का शासन, २—पार्लिमेंट का शासन, ३—भारत मंत्री, ४—भारत सरकार, ५—प्रान्तीय सरकार, ६—भारतीय व्यवस्थापक मंडल, ७—प्रान्तीय व्यवस्थापक मंडल, ८—ज़िले का शासन, ९—सरकारी आय-व्यय, १०—सेना, ११—पुलिस, १२—न्याय और जेल, १३—कृषि, १४—आबपाशी और निर्माण कार्य, १५—स्वास्थ्य और चिकित्सा, १६—आबकारी, १७—शिक्षा, १८—रेल, १९—डाक और तार, २०—उद्योग धंधे और व्यापार, २१—सहकारिता आन्दोलन, २२—स्थानीय स्वराज्य, २३—देशी रियासतें।

विद्यार्थियों के अतिरिक्त, सुयोग्य नागरिक बनने की इच्छा रखने वाले प्रत्येक लड़के और लड़की को यह पुस्तक अवश्य पढ़नी चाहिये।